November 2024

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०२४

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०२४

विषय-सूची

उत्तरपाड़ा भाषण	श्रीअरविन्द	३
परिचन्द के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार (२)	श्रीमाँ	१२
मन और सत्य	श्रीअरविन्द	२०
जापान के बारे में	'श्रीमातृवाणी' से	२२
शरीर तथा दिव्य जीवन	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ	२४
श्रीअरविन्द के उत्तर (९४)		२८

उत्तरपाड़ा भाषण

(अलीपुर जेल से छूटने के बाद तीन हफ़्ते श्रीअरविन्द का पहला महत्त्वपूर्ण भाषण मई १९०९ को उत्तरपाड़ा में हुआ था। इसमें उन्होंने ६०० व्यक्तियों को अपने जेल-जीवन का आध्यात्मिक अनुभव सुनाया और साथ ही देश को सच्ची राष्ट्रीयता का सन्देश दिया। इसमें उन्होंने बताया है कि सच्चा हिन्दू धर्म, सच्चा सनातन धर्म क्या है और आज के संसार को उसकी क्यों ज़रूरत है। उनका यह भाषण उनके जीवन में एक नये मोड़ का परिचय देता है।—सं.)

जब मुझे आपकी 'सभा' के इस वार्षिक अधिवेशन में बोलने के लिए कहा गया, तो मैंने यही सोचा था कि आज के लिए जो विषय चुना गया है उसी पर, अर्थात् हिन्दू धर्म पर कुछ कहूँगा। मैं नहीं जानता कि उस इच्छा को मैं पूरा कर सकूँगा या नहीं; क्योंकि जैसे ही मैं यहाँ आकर बैठा मेरे मन में एक सन्देश आया और यह सन्देश मुझे आपको और सारे भारत-राष्ट्र को सुनाना है। यह वाणी मुझे पहले-पहल जेल में सुनायी दी थी और उसे अपने देशवासियों को सुनाने के लिए मैं जेल से बाहर आया हूँ।

पिछली बार जब मैं यहाँ आया था उसे एक वर्ष से ऊपर हो चुका है। उस बार मैं अकेला न था; तब मेरे साथ ही बैठे थे राष्ट्रीयता के एक परम शक्तिमान् दूत। उन दिनों वे उस एकान्तवास से लौट कर आये थे जहाँ उन्हें भगवान् ने इसलिए भेजा था कि वे अपनी कालकोठरी की शान्ति और निर्जनता में उस वाणी को सुन सकें जो उन्हें सुनानी थी। उस समय आप सैकड़ों की संख्या में उन्हीं का स्वागत करने आये थे। आज वे हमसे बहुत दूर हैं, हज़ारों मील के फ़ासले पर हैं। दूसरे लोग भी, जिन्हें मैं अपने साथ काम करते हुए पाता था, आज अनुपस्थित हैं। देश पर जो तूफ़ान आया था उसने उन्हें दूर-दूर बिखेर दिया है। इस बार मैं एक वर्ष निर्जनवास में बिता कर आया हूँ और अब बाहर आकर देखता हूँ कि सब कुछ बदल गया है। जो सदा मेरे साथ बैठते थे, जो सदा मेरे काम में सहयोग दिया करते थे, आज बर्मा में क़ैद हैं; दूसरे उत्तर में नज़रबन्द होकर सड़ रहे हैं। जब मैं बाहर आया तो मैंने अपने चारों ओर देखा, जिनसे सलाह और प्रेरणा पाने का अभ्यास था उन्हें खोजा। वे मुझे नहीं मिले। इतना ही नहीं, जब मैं जेल गया था तो सारा देश 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि से गूँज रहा था, वह एक राष्ट्र बनने की आशा से जीवित था। यह उन करोड़ों मनुष्यों की आशा थी जो गिरी हुई दशा से अभी-अभी ऊपर उठे थे। जब मैं जेल से बाहर आया तो मैंने इस ध्वनि को सुनने की कोशिश की, किन्तु इसके स्थान पर छायी हुई थी निस्तब्धता। देश में सन्नाटा था और लोग हक्के-बक्के-से दिखायी दिये; क्योंकि जहाँ पहले हमारे सामने भविष्य की कल्पना से भरा ईश्वर का उज्ज्वल स्वर्ग था वहाँ हमारे सिर पर धूसर आकाश दिखायी दिया जिससे मानवीय वज्र और बिजली की वर्षा हो रही थी। किसी को यह न दिखायी देता था कि किस ओर चलना चाहिये,

और चारों ओर से यही प्रश्न उठ रहा था, "अब क्या करें? हम क्या कर सकते हैं?" मुझे भी पता न था कि किस ओर चलना चाहिये और अब क्या किया जा सकता है। लेकिन एक बात मैं जानता था, ईश्वर की जिस महान् शक्ति ने उस ध्वनि को जगाया था, उस आशा का सञ्चार किया था उसी शक्ति ने यह सन्नाटा भेजा है। जो ईश्वर उस कोलाहल और आन्दोलन में थे, वे ही इस विश्राम और निस्तब्धता में भी हैं। ईश्वर ने इसे भेजा है ताकि राष्ट्र क्षण-भर के लिए रुक कर अपने अन्दर खोजे और जाने कि उनकी इच्छा क्या है। इस निस्तब्धता से मैं निरुत्साहित नहीं हुआ हूँ, क्योंकि कारागार में इस निस्तब्धता के साथ मेरा परिचय हो चुका है और मैं जानता हूँ कि मैंने एक वर्ष की लम्बी क़ैद के विश्राम और निस्तब्धता में ही यह पाठ पढ़ा है। जब विपिनचन्द्र पाल जेल से बाहर आये तो वे एक सन्देश लेकर आये थे और वह प्रेरणा से मिला हुआ सन्देश था। उन्होंने यहाँ जो वक्तृता दी थी वह मुझे याद है। उस वक्तृता का मर्म और अभिप्राय उतना राजनीतिक नहीं था जितना धार्मिक था। उन्होंने उस समय जेल के अन्दर मिली हुई अनुभूति की, हम सबके अन्दर जो भगवान् हैं उनकी, राष्ट्र के अन्दर जो परमेश्वर हैं उनकी बात की थी। अपने बाद के व्याख्यानों में भी उन्होंने कहा था कि इस आन्दोलन में जो शक्ति काम कर रही है वह सामान्य शक्ति की अपेक्षा महान् है और इसका हेतु भी साधारण हेतु से कहीं बढ़ कर है। आज मैं भी आपसे फिर मिल रहा हूँ, मैं भी जेल से बाहर आया हूँ और इस बार भी आप ही, इस उत्तरपाड़ा के निवासी ही, मेरा सबसे पहले स्वागत कर रहे हैं। किसी राजनीतिक सभा में नहीं, बल्कि उस समिति की सभा में जिसका उद्देश्य है धर्म की रक्षा। जो सन्देश विपिनचन्द्र पाल ने बक्सर जेल में पाया था वही भगवान् ने मुझे अलीपुर में दिया। वह ज्ञान भगवान् ने मुझे बारह महीने के कारावास में दिन-प्रतिदिन दिया और आदेश दिया है कि अब जब मैं जेल से बाहर आ गया हूँ तो आपसे उसकी बात करूँ।

मैं जानता था कि मैं जेल से बाहर निकल आऊँगा। यह वर्ष-भर की नज़रबन्दी केवल एक वर्ष के एकान्तवास और प्रशिक्षण के लिए थी। भला किसी के लिए यह कैसे सम्भव होता कि वह मुझे जेल में उतने दिनों से अधिक रोक रखता जितने दिन भगवान् का हेतु सिद्ध करने के लिए आवश्यक थे? भगवान् ने कहने के लिए एक सन्देश दिया है और करने के लिए एक काम, मैं यह जानता था कि जब तक यह सन्देश सुना नहीं दिया जाता जब तक कोई मानव-शक्ति मुझे चुप नहीं कर सकती, जब तक वह काम नहीं हो जाता तब तक कोई मानव-शक्ति भगवान् के यन्त्र को रोक नहीं सकती, फिर वह यन्त्र चाहे कितना ही दुर्बल, कितना ही सामान्य क्यों न हो। अब, जब कि मैं बाहर आ गया हूँ, इन चन्द मिनटों में ही मुझे एक ऐसी वाणी सुझायी गयी है जिसे व्यक्त करने की मेरी कोई इच्छा न थी। मेरे मन में जो कुछ था उसे भगवान् ने निकाल कर फेंक दिया है और मैं जो कुछ बोल रहा हूँ वह एक प्रेरणा के वश होकर, बाध्य होकर बोल रहा हूँ।

जब मुझे गिरफ़्तार करके जल्दी-जल्दी लालबाज़ार की हाजत में पहुँचाया गया तो मेरी श्रद्धा क्षण-भर के लिए डिग गयी थी, क्योंकि उस समय मैं भगवान् की इच्छा के मर्म को नहीं

जान पाया था। इसलिए मैं क्षण-भर के लिए विचलित हो गया और अपने हृदय में भगवान् को पुकार कर कहने लगा, "यह क्या हुआ? मेरा यह विश्वास था कि मुझे अपने देशवासियों के लिए कोई विशेष कार्य करना है और जब तक वह कार्य पूरा नहीं हो जाता तब तक तुम मेरी रक्षा करोगे। तब फिर मैं यहाँ क्यों हूँ और वह भी इस प्रकार के अभियोग में?" एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीत गये, तब मेरे अन्दर से एक आवाज़ आयी, "ठहरो और देखो कि क्या होता है।" तब मैं शान्त हो गया और प्रतीक्षा करने लगा। मैं लालबाज़ार थाने से अलीपुर जेल में ले जाया गया और वहाँ मुझे एक महीने के लिए मनुष्यों से दूर एक निर्जन कालकोठरी में रखा गया। वहाँ मैं अपने अन्दर विद्यमान भगवान् की वाणी सुनने के लिए, यह जानने के लिए कि वे मुझसे क्या कहना चाहते हैं और यह सीखने के लिए कि मुझे क्या करना होगा, रात-दिन प्रतीक्षा करने लगा। इस एकान्तवास में मुझे सबसे पहली अनुभूति हुई, पहली शिक्षा मिली। उस समय मुझे याद आया कि गिरफ़्तारी से एक महीना या उससे भी कुछ अधिक पहले मुझे यह आदेश मिला था कि मैं अपने सारे कर्म छोड़ कर एकान्त में चला जाऊँ और अपने अन्दर खोज करूँ ताकि भगवान् के साथ अधिक सम्पर्क में आ सकूँ। मैं दुर्बल था और उस आदेश को स्वीकार न कर सका। मुझे अपना कार्य बहुत प्रिय था और हृदय में इस बात का अभिमान था कि यदि मैं न रहूँ तो इस कार्य को धक्का पहुँचेगा, इतना ही नहीं, शायद असफल और बन्द भी हो जायेगा; इसलिए मुझे कार्य नहीं छोड़ना चाहिये। ऐसा बोध हुआ कि वे मुझसे फिर बोले और उन्होंने कहा कि, "जिन बन्धनों को तोड़ने की शक्ति तुममें नहीं थी उन्हें तुम्हारे लिए मैंने तोड़ दिया है क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है और न थी ही कि वे कार्य जारी रहें। तुम्हारे करने के लिए मैंने दूसरा काम चुना है और उसी के लिए मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ ताकि मैं तुम्हें वह बात सिखा दूँ जिसे तुम स्वयं नहीं सीख सके और तुम्हें अपने काम के लिए तैयार कर लूँ।" इसके बाद भगवान् ने मेरे हाथों में *गीता* रख दी। मेरे अन्दर उनकी शक्ति प्रवेश कर गयी और मैं *गीता* की साधना करने में समर्थ हुआ। मुझे केवल बुद्धि द्वारा ही नहीं, बल्कि अनुभूति द्वारा भी जानना था कि श्रीकृष्ण की अर्जुन से क्या माँग थी और वे उन लोगों से क्या माँगते हैं जो उनका कार्य करने की इच्छा रखते हैं, अर्थात् घृणा और कामना-वासना से मुक्त होना होगा, फल की इच्छा न रख कर भगवान् के लिए कर्म करना होगा, अपनी इच्छा का त्याग करना होगा और निश्चेष्ट तथा सच्चा यन्त्र बन कर भगवान् के हाथों में रहना होगा, ऊँच और नीच, मित्र और शत्रु, सफलता और विफलता के प्रति समदृष्टि रखनी होगी और यह सब होते हुए भी उनके कार्य में कोई अवहेलना न आने पाये। मैंने यह जाना कि हिन्दू धर्म का मतलब क्या है। बहुधा हम हिन्दू धर्म, सनातन धर्म की बातें करते हैं, किन्तु वास्तव में हममें से कम ही लोग यह जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्य रूप से विश्वास, व्रत, दीक्षा और मान्यता को महत्त्व देते हैं, किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन है, यह इतनी विश्वास करने की चीज़ नहीं है जितनी जीवन में उतारने की चीज़ है। यही वह धर्म है जिसे मानवजाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकान्तवास में

सँजोया जाता रहा है। यही धर्म देने के लिए भारत उठ रहा है। भारतवर्ष, दूसरे देशों की तरह, अपने लिए ही या मज़बूत होकर दूसरों को कुचलने के लिए नहीं उठ रहा। वह उठ रहा है सारे संसार पर वह सनातन ज्योति बिखरने के लिए जो उसे सौंपी गयी है। भारत का जीवन सदा ही मानवजाति के लिए रहा है, उसे अपने लिए नहीं बल्कि मानवजाति के लिए महान् होना है।

अतः, भगवान् ने मुझे यह दूसरी वस्तु दिखायी—उन्होंने मुझे हिन्दू धर्म के मूल सत्य का साक्षात्कार करा दिया। उन्होंने मेरे जेलरों के दिल को मेरी ओर मोड़ दिया, उन्होंने जेल के प्रधान अंग्रेज़ अधिकारी से कहा कि "ये कालकोठरी में बहुत कष्ट पा रहे हैं; इन्हें कम-से-कम सुबह-शाम आध-आध घण्टा कोठरी के बाहर टहलने की अनुमति दे दी जाये।" यह अनुमति मिल गयी और जब मैं टहल रहा था तो भगवान् की शक्ति ने फिर मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने उस जेल की ओर दृष्टि डाली जो मुझे और लोगों से अलग किये हुए था। मैंने देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारों के अन्दर बन्दी नहीं हूँ; मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मैं अपनी कालकोठरी के सामने के पेड़ की शाखाओं के नीचे टहल रहा था, परन्तु वहाँ पेड़ न था, मुझे प्रतीत हुआ कि वे वासुदेव हैं; मैंने देखा कि स्वयं श्रीकृष्ण खड़े हैं और मेरे ऊपर अपनी छाया किये हुए हैं। मैंने अपनी कालकोठरी के सींख़चों की ओर देखा, उस जाली की ओर देखा जो दरवाज़े का काम कर रही थी, वहाँ भी वासुदेव दिखायी दिये। स्वयं नारायण सन्तरी बन कर पहरा दे रहे थे। जब मैं उन मोटे कम्बलों पर लेटा जो मुझे पलंग की जगह मिले थे तो मैंने यह अनुभव किया कि मेरे सखा और प्रेमी श्रीकृष्ण मुझे अपनी बाहुओं में लिये हुए हैं। मुझे उन्होंने जो गहरी दृष्टि दी थी उसका यह पहला प्रयोग था। मैंने जेल के क़ैदियों—चोरों, हत्यारों और बदमाशों—को देखा और मुझे वासुदेव दिखायी पड़े, अँधेरे में पड़ी उन आत्माओं और बुरी तरह काम में लाये गये शरीरों में मुझे नारायण मिले। उन चोरों और डाकुओं में बहुत-से ऐसे थे जिन्होंने अपनी सहानुभूति और दया के द्वारा मुझे लज्जित कर दिया, इन विपरीत परिस्थितियों में मानवता विजयी हुई थी। इनमें से एक आदमी को मैंने विशेष रूप से देखा जो मुझे एक सन्त मालूम हुआ। वह हमारे देश का एक किसान था जो लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, जिसे तथाकथित डकैती के अभियोग में दस वर्ष का कठोर दण्ड मिला था। यह उनमें से एक व्यक्ति था जिन्हें हम वर्ग के मिथ्याभिमान में आकर "छोटो लोक" (नीच) कहा करते हैं। फिर एक बार भगवान् मुझसे बोले, उन्होंने कहा, "अपना कुछ थोड़ा-सा काम करने के लिए मैंने तुम्हें जिनके बीच भेजा है उन लोगों को देखो। जिस जाति को मैं ऊपर उठा रहा हूँ उसका स्वरूप यही है और इसी कारण मैं उसे ऊपर उठा रहा हूँ।"

जब छोटी अदालत में मुक़द्दमा शुरू हुआ और हमलोग मजिस्ट्रेट के सामने खड़े किये गये तो वहाँ भी मेरी अन्तर्दृष्टि मेरे साथ थी। भगवान् ने मुझसे कहा, "जब तुम जेल में डाले गये थे तो क्या तुम्हारा हृदय हताश नहीं हुआ था, क्या तुमने मुझे पुकार कर यह नहीं कहा था—कहाँ, तुम्हारी रक्षा कहाँ है? लो, अब मजिस्ट्रेट की ओर देखो, सरकारी वकील की ओर देखो।" मैंने देखा कि अदालत की कुर्सी पर मजिस्ट्रेट नहीं, स्वयं वासुदेव, नारायण बैठे थे।

अब मैंने सरकारी वकील की ओर देखा पर वहाँ कोई सरकारी वकील नहीं दिखायी दिया, वहाँ तो श्रीकृष्ण बैठे मुस्कुरा रहे थे, मेरे सखा, मेरे प्रेमी। उन्होंने कहा, "अब डरते हो? मैं सभी मनुष्यों में विद्यमान हूँ और उनके सभी कर्मों और शब्दों पर राज करता हूँ। मेरा संरक्षण अब भी तुम्हारे साथ है, और तुम्हें डरना नहीं चाहिये। तुम्हारे विरुद्ध जो यह मुक़द्दमा चलाया गया है उसे मेरे हाथों में सौंप दो। यह तुम्हारे लिए नहीं है। मैं तुम्हें यहाँ मुक़द्दमे के लिए नहीं बल्कि किसी और काम के लिए लाया हूँ। यह तो मेरे काम का एक साधनमात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं।" इसके बाद जब सेशन जज की अदालत में विचार आरम्भ हुआ तो मैं अपने वकील के लिए ऐसी बहुत-सी हिदायतें लिखने लगा कि गवाही में मेरे विरुद्ध कही गयी बातों में से कौन-सी बातें ग़लत हैं और किन-किन पर गवाहों से जिरह की जा सकती है। तब एक ऐसी घटना घटी जिसकी मैं आशा नहीं करता था। मेरे मुक़द्दमे की पैरवी के लिए जो प्रबन्ध किया गया था वह एकाएक बदल गया और मेरी सफ़ाई के लिए एक दूसरे ही वकील खड़े हुए। वे अप्रत्याशित रूप से आ गये, वे मेरे एक मित्र थे, किन्तु मैं नहीं जानता था कि वे आयेंगे। आप सभी ने उनका नाम सुना है, जिन्होंने मन से सभी विचार निकाल बाहर किये और इस मुक़द्दमे के सिवा सारी वकालत बन्द कर दी, जिन्होंने महीनों लगातार आधी-आधी रात तक जग कर मुझे बचाने के लिए अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लिया—वे हैं श्री चित्तरंजन दास। जब मैंने उन्हें देखा तो मुझे सन्तोष हुआ, फिर भी मैं समझता था कि हिदायतें लिखनी ज़रूरी हैं। इसके बाद यह विचार भी हटा दिया गया और मेरे अन्दर से आवाज़ आयी, "यही वह व्यक्ति है जो तुम्हारे पैरों के चारों ओर फैले जाल से तुम्हें बाहर निकालेगा। तुम इन काग़ज़ों को अलग धर दो। इन्हें तुम हिदायतें नहीं दोगे, मैं दूँगा।" उस समय से इस मुक़द्दमे के सम्बन्ध में मैंने अपनी ओर से अपने वकील से एक शब्द भी नहीं कहा, कोई हिदायत नहीं दी और यदि कभी मुझसे कोई सवाल पूछा गया तो मैंने सदा यही देखा कि मेरे उत्तर से मुक़द्दमे को कोई मदद नहीं मिली। मैंने मुक़द्दमा उन्हें सौंप दिया और उन्होंने पूरी तरह उसे अपने हाथों में ले लिया, और उसका परिणाम आप जानते ही हैं। मैं सदा यह जानता था कि मेरे सम्बन्ध में भगवान् की क्या इच्छा है, क्योंकि मुझे बार-बार यह वाणी सुनायी पड़ती थी, मेरे अन्दर से सदा यह आवाज़ आया करती थी, "मैं रास्ता दिखा रहा हूँ, इसलिए डरो मत। मैं तुम्हें जिस काम के लिए जेल में लाया हूँ अपने उस काम की ओर मुड़ो और जब तुम जेल से बाहर निकलो तो यह याद रखना—कभी डरना मत, कभी हिचकिचाना मत। याद रखो, यह सब मैं कर रहा हूँ, तुम या कोई और नहीं। अतः, चाहे जितने बादल घिरें, चाहे जितने ख़तरे और दुःख-कष्ट आयें, कठिनाइयाँ हों, चाहें जितनी असम्भवताएँ आयें, कुछ भी असम्भव नहीं है, कुछ भी कठिन नहीं है। मैं इस देश और उसके उत्थान में हूँ, मैं वासुदेव हूँ, मैं नारायण हूँ। जो कुछ मेरी इच्छा होगी वही होगा, दूसरों की इच्छा से नहीं। मैं जिस चीज़ को लाना चाहता हूँ उसे कोई मानव-शक्ति रोक नहीं सकती।"

इस बीच वे मुझे उस एकान्त कालकोठरी से बाहर ले आये और मुझे उन लोगों के साथ

रख दिया जिन पर मेरे साथ ही अभियोग चल रहा था। आज आपने मेरे आत्म-त्याग और देश-प्रेम के बारे में बहुत कुछ कहा है। मैं जब से जेल से निकला हूँ तब से इसी प्रकार की बातें सुनता आ रहा हूँ, किन्तु ऐसी बातें सुनने से मुझे लज्जा आती है, मेरे अन्दर एक तरह की वेदना होती है। क्योंकि मैं अपनी दुर्बलता जानता हूँ, मैं अपने दोषों और त्रुटियों का शिकार हूँ। मैं इन बातों के बारे में पहले भी अन्धा न था और जब मेरे एकान्तवास में, ये सब-की-सब मेरे विरुद्ध खड़ी हो गयीं तो मैंने इनका पूरी तरह अनुभव किया। तब मुझे मालूम हुआ कि मनुष्य के नाते मैं दुर्बलताओं का एक ढेर हूँ, एक दोष-भरा अपूर्ण यन्त्र हूँ, मुझमें ताक़त तभी आती है जब कोई उच्चतर शक्ति मेरे अन्दर आ जाये। अब मैं उन युवकों के बीच में आया और मैंने देखा कि उनमें से बहुतों में एक प्रचण्ड साहस और शक्ति है अपने को मिटा देने की और उनकी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूँ। इनमें से एक-दो ऐसे थे जो केवल बल और चरित्र में ही मुझसे बढ़ कर नहीं थे—ऐसे तो बहुत थे—बल्कि मैं जिस बुद्धि की योग्यता का अभिमान रखता था, उसमें भी बढ़े हुए थे। भगवान् ने मुझसे फिर कहा, "यही वह युवक-दल, वह नवीन और बलवान् जाति है जो मेरे आदेश से ऊपर उठ रही है। ये तुमसे अधिक बड़े हैं। तुम्हें भय किस बात का है? यदि तुम इस काम से हट जाओ या सो जाओ तो भी काम पूरा होगा। कल तुम इस काम से हटा दिये जाओ तो ये युवक तुम्हारे काम को उठा लेंगे और उसे इतने प्रभावशाली ढंग से करेंगे जैसे तुमने भी नहीं किया। तुम्हें इस देश को एक वाणी सुनाने के लिए मुझसे कुछ बल मिला है, यह वाणी इस जाति को ऊपर उठाने में सहायता देगी।" यह वह दूसरी बात थी जो भगवान् ने मुझसे कही।

इसके बाद अचानक कुछ हुआ और क्षण-भर में मुझे कालकोठरी के एकान्तवास में पहुँचा दिया गया। इस एकान्तवास में मेरे अन्दर क्या हुआ यह कहने की प्रेरणा नहीं हो रही, बस इतना काफ़ी है कि वहाँ दिन-प्रतिदिन भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाये और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराया। पहले मेरे अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैंड में विदेशी भावों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातों को मात्र कल्पना समझता था, यह समझता था कि इसमें बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परन्तु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिन्दू धर्म के सत्य को, अपने मन में, अपने प्राण में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवित अनुभव हो गये और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता। जब मैं पहले-पहल भगवान् के पास गया तो पूरी तरह भक्ति-भाव के साथ नहीं गया था, पूरी तरह ज्ञानी के भाव से भी नहीं गया था। बहुत दिन हुए, स्वदेशी-आन्दोलन शुरू होने से पहले और मेरे सार्वजनिक काम में प्रवेश करने से कुछ वर्ष पहले बड़ौदा में मैं उनकी ओर बढ़ा था।

उन दिनों जब मैं भगवान् की ओर बढ़ा तो मुझे उन पर जीवन्त श्रद्धा न के बराबर थी। उस समय मेरे अन्दर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, सन्देहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास

न था कि भगवान् हैं भी। मैं उनकी उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज़ थी जिसने मुझे वेद के सत्य की ओर, *गीता* के सत्य की ओर, हिन्दू धर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महा शक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदान्त पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है। इसलिए जब मैं योग की ओर मुड़ा और योगाभ्यास करके मैंने यह जानने का संकल्प किया कि मेरा सोचना सही है या नहीं तो मैंने उसे इस भाव और इस प्रार्थना से शुरू किया। मैंने कहा, "हे प्रभो, यदि तुम हो तो तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं माँगता, मैं ऐसी कोई चीज़ नहीं माँगता जो दूसरे माँगा करते हैं। मैं केवल इस जाति को ऊपर उठाने की शक्ति माँगता हूँ, मैं केवल यह माँगता हूँ कि मुझे इस देश के लोगों के लिए, जिनसे मैं प्यार करता हूँ, जीने और कर्म करने की अनुमति मिले और यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं अपना जीवन उनके लिए लगा सकूँ।" मैंने योग-सिद्धि पाने के लिए बहुत दिनों तक प्रयास किया और अन्त में किसी हद तक मुझे मिली भी, पर जिस बात के लिए मेरी बहुत अधिक इच्छा थी उसके सम्बन्ध में मुझे सन्तोष नहीं हुआ। तब उस जेल के, उस कालकोठरी के एकान्तवास में मैंने उसके लिए फिर से प्रार्थना की। मैंने कहा, "मुझे अपना आदेश दो, मैं नहीं जानता कि कौन-सा काम करूँ और कैसे करूँ। मुझे एक सन्देश दो।" इस योगयुक्त अवस्था में मुझे दो सन्देश मिले। पहला यह था, "मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस जाति के उत्थान में सहायता देना। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब तुम्हें जेल के बाहर जाना होगा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि इस बार तुम्हें सज़ा हो या तुम अपना समय, औरों की तरह अपने देश के लिए कष्ट सहते हुए बिताओ। मैंने तुम्हें काम के लिए बुलाया है और यही वह आदेश है जो तुमने माँगा था। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि जाओ और मेरा काम करो।" दूसरा सन्देश आया, वह इस प्रकार था, "इस एक वर्ष के एकान्तवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज़ दिखायी गयी है जिसके बारे में तुम्हें सन्देह था, वह है हिन्दू धर्म का सत्य। इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूँ, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य राष्ट्रों में मेरा काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी का प्रसार करने के लिए इस राष्ट्र को उठा रहा हूँ। यही वह सनातन धर्म है जिसे तुम पहले सचमुच नहीं जानते थे, किन्तु जिसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अन्दर जो नास्तिकता थी, जो सन्देह था उनका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने अन्दर और बाहर स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें सन्तोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपने राष्ट्र को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतन्त्रता दे रहा हूँ। अतएव, जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा

और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जायेगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है। धर्म की महिमा बढ़ाने का अर्थ है देश की महिमा बढ़ाना। मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह हूँ, सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हूँ, मैं इस आन्दोलन में हूँ और केवल उन्हीं के अन्दर कार्य नहीं कर रहा जो देश के लिए मेहनत कर रहे हैं बल्कि उनके अन्दर भी जो उनका विरोध करते और मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर काम कर रहा हूँ और मनुष्य चाहे जो कुछ सोचें या करें, पर वे मेरे हेतु की सहायता करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे भी मेरा ही काम कर रहे हैं; वे मेरे शत्रु नहीं बल्कि मेरे यन्त्र हैं। तुम यह जाने बिना भी कि तुम किस ओर जा रहे हो, अपनी सारी क्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ रहे हो। तुम करना चाहते हो कुछ पर कर बैठते हो कुछ और। तुम एक परिणाम को लक्ष्य बनाते हो और तुम्हारे प्रयास ऐसे हो जाते हैं जो उससे भिन्न या उलटे परिणाम लाते हैं। शक्ति का आविर्भाव हुआ है और उसने लोगों में प्रवेश किया है। मैं एक ज़माने से इस उत्थान की तैयारी करता आ रहा हूँ और अब वह समय आ गया है। अब मैं ही इसे पूर्णता की ओर ले जाऊँगा।"

यही वह वाणी है जो मुझे आपको सुनानी है। आपकी सभा का नाम है "धर्मरक्षिणी सभा"। अस्तु, धर्म का संरक्षण, दुनिया के सामने हिन्दू धर्म का संरक्षण और उत्थान—यही कार्य हमारे सामने है। परन्तु हिन्दू धर्म क्या है? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह हिन्दू धर्म इसी नाते है कि हिन्दूजाति ने इसको रखा है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्रायद्वीप के एकान्तवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्यजाति को सौंपा गया था। परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बँधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म कुछ काल और किसी मर्यादित हेतु के लिए ही रह सकता है। यही एक ऐसा धर्म है जो अपने अन्दर विज्ञान, यानी साइंस के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र के चिन्तनों का पूर्वाभास देकर और उन्हें अपने अन्दर मिला कर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म है जो मानवजाति के दिल में यह बात बिठा देता है कि भगवान् हमारे निकट हैं, यह उन सभी साधनों को अपने अन्दर ले लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के माने हुए इस सत्य पर ज़ोर देता है कि भगवान् हर व्यक्ति और हर चीज़ में हैं तथा हम उन्हीं में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में हम निवास करते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो इस सत्य को केवल समझने और उस पर विश्वास करने में ही हमारा सहायक नहीं होता बल्कि अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में भी हमारी मदद करता है। यही एक धर्म है जो संसार को दिखा देता है कि

संसार है—वासुदेव की लीला। यही एक ऐसा धर्म है जो हमें यह बताता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका अच्छी-से-अच्छी तरह कैसे निभा सकते हैं, जो हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्-से-महान् विधान कौन-से हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी-से-छोटी बात को भी धर्म से अलग नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्यु की वास्तविकता को हमारे अन्दर से एकदम निकाल दिया है।

यही वह वाणी है जो आपको सुनाने के लिए आज मेरी जिह्वा पर रख दी गयी थी। मैं जो कुछ कहना चाहता था वह तो मुझसे अलग कर दिया गया है और जो मुझे कहने के लिए दिया गया है उससे अधिक मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं है। जो वाणी मेरे अन्दर रख दी गयी थी केवल वही आपको सुना सकता हूँ। अब वह समाप्त हो चुकी है। पहले भी एक बार जब मेरे अन्दर यही शक्ति काम कर रही थी तो मैंने आपसे कहा था कि यह आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन नहीं है और यह कि राष्ट्रीयता राजनीति नहीं, बल्कि एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है। उसी बात को आज फिर मैं दोहराता हूँ, किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूप में उपस्थित कर रहा हूँ। आज मैं यह नहीं कहता कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, एक धर्म है, एक निष्ठा है, बल्कि मैं यह कहता हूँ कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दूजाति सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुई है, उसी को लेकर चलती है और उसी को लेकर पनपती है। जब सनातन धर्म की अवनति होती है तब इस जाति की भी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता तो सनातन धर्म के साथ-ही-साथ इस जाति का भी विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह सन्देश है जो मुझे आपको सुनाना है।

३० मई १९०९ **श्रीअरविन्द**

परिचन्द के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

(२)

बाग़बानी का काम

३० अक्तूबर १९०४ में जन्मे, परिचन्द कोठारी ने तीस वर्ष की अवस्था में ११ नवम्बर १९३४ को आश्रम में प्रवेश पाया। पहले कुछ वर्षों तक इन्होंने आश्रम के मुख्य भवन पर 'गेट-ड्यूटी' की, पुस्तकालय में काम किया और अंग्रेज़ी के अध्यापक रहे। उसके बाद, १९३८ में इन्होंने आश्रम के मुख्य भवन के बग़ीचे का सारा कार्य-भार सँभाल लिया। अगले पचास वर्षों तक ये आश्रम के बग़ीचों के मुखिया रहे। ५६ वर्षों तक, अपनी मृत्यु-पर्यन्त, ये आश्रम में रहे; इनका देहावसान २७ अगस्त १९९१ में ८६ वर्ष की अवस्था में हुआ।

माँ के साथ परिचन्द का पत्र-व्यवहार दो भागों में है, "साधना तथा जीवन" और "बाग़बानी का काम"; यह पत्राचार १९३६ से १९६१ के बीच हुआ।

हो सकता है कि तीसरे भूखण्ड की क्यारी तैयार करते हुए कुछ पेड़ों की जड़ें काटना ज़रूरी हो।

नहीं, यह सम्भव नहीं है। पेड़ों की जड़ें **नहीं** काटनी चाहियें।

और इसकी जगह, अगर पेड़ों का मान किया जाये तो तुम उन्हें तैयार कर सकते हो।

आशीर्वाद।

१९३८

आज मैंने सारी चीज़ 'ख' को समझायी। निस्सन्देह 'सेवा' के इस पेड़ ने पिछले तूफ़ान के कारण बहुत यातना सही है और मैं उसे और कठिनाई में नहीं डालना चाहती। लेकिन इस मामले में यह मुख्य बात नहीं है। वहाँ यूकेलिप्टस का पेड़ लगाने में मेरी मुख्य आपत्ति यह है कि वहाँ 'सेवा' वृक्ष की जड़ें गहरी जा चुकी हैं और जहाँ अच्छी ज़मीन है और नयी मिट्टी डाली गयी है वहाँ नयी जड़ें भी आ जायेंगी और उसकी नयी जड़ें यूकेलिप्ट स से ज़्यादा मज़बूत होंगी। वे ज़मीन में से सारा खाद्य चूस लेंगी और यूकेलिप्टस को भूखा छोड़ देंगी, हो सकता है कि समाप्त भी कर दें।

यदि अनिवार्य हो तो थोड़ी-बहुत पतली-पतली जड़ें काटी जा सकती हैं, लेकिन ज़्यादा मात्रा में या बहुधा नहीं।

आशीर्वाद। १९३८

पिछली नवम्बर कलकत्ते से जो 'एंजिन गुलाब' आया था और जिसे जनवरी के शुरू में प्रतिरोपित किया गया था, अभी तक ठीक चल रहा था, पर अब उसकी पत्तियों में सिलवटें पड़ रही हैं और वे काली होती जा रही हैं। पिछले नौ दिनों में दो बार उसमें द्रव खाद डाली गयी है।

मुझे शंका है कि प्रायः सभी मामलों में द्रव खाद ही अपराधी है। गुलाब की खेती करने वालों को फ़्रांस में जो सबसे पहली चीज़ सिखायी जाती है वह यह कि सामान्यतः द्रव खाद का और विशेषकर जिसका *ख़मीर न बना हो* उस खाद का उपयोग कभी न करना चाहिये।

९ अप्रैल १९३८

हम देखते हैं कि गरमी के दिनों में बहुत-सी कलियाँ कमज़ोर, विकृत और विवर्ण हो जाती हैं। क्या उन्हें काट देना अच्छा न होगा?

तुम एक पर परीक्षण करके परिणाम देख सकते हो।

क्या आप कलियों, कोपलों और फलों की संख्या को सीमित करना पसन्द करती हैं ताकि बाक़ी चीज़ें अधिक स्वस्थ रह सकें?

किन्हें रखा जाये और किन्हें निकाल दिया जाये, इसका चुनाव करना कठिन काम है।

१४ मई १९३८

गरमियों में हम शाखाओं की नोक को सूखते, पत्तों को अपना हरा रंग खोते, कोपलों को कमज़ोर होते, पत्तों को सिकुड़ते देखने के अभ्यस्त हो गये हैं, पौधे कमज़ोर और रोगी लगने लगते हैं। मन कहता है कि यह ऐसे स्थानों के लिए अनिवार्य है जहाँ साल में छह महीने गरमी की ऋतु रहती है। लेकिन मेरे अन्दर कोई चीज़ इस सुझाव का प्रतिवाद करती है और कहती है, "पौधे तरोताज़ा और सारे साल जीवन से भरे रह सकते हैं। अगर हम उन्हें ठीक तरह रखना जानें, अगर उचित सावधानी बरती जाये तो पौधों पर ऋतु का प्रभाव न पड़ेगा और उनके लिए इतना दुःख झेलना अनिवार्य न रहेगा। कुछ पौधे गरमियों में विश्राम ले सकते हैं, वृद्धि उस काल के लिए रुक सकती है, लेकिन दुःख-कष्ट का कोई लक्षण न दिखायी देगा।"

निश्चय ही, अगर उचित सावधानी बरती जाये तो पौधों को कष्ट न सहना पड़ेगा।

आशीर्वाद। २८ मई १९३८

... इस घटना के कारण मेरे मन में यह सुझाव आया है: "पौधों के ऊपर ११ या ११.३० के लगभग छतरी लगा दी जाये और दो या ढाई बजे हटा दी जाये। यह धूप से काफ़ी रक्षा करेगी। पानी देने की भी उचित व्यवस्था की जा सकती है।" मैं आपके निर्देश के लिए प्रार्थना करता हूँ।

स्पष्टतः गुलाब के पौधों की दृष्टि से यह अच्छा होगा—लेकिन तुम्हारे लिए?

४ जून १९३८

गढ़े में अप्रयुक्त क्रोटोन की खाद रखी जाती है, दीवार के साथ-साथ रसोईघर के पीछे ताड़ की खाद।

मैं आशा करती हूँ कि इससे गन्ध नहीं आती और यह मकान को असुविधाजनक नहीं बना देती।

१३ जुलाई १९३८

गुलाब के ये पौधे आम के पेड़ की छाया के नीचे हैं और उनके चारों ओर ऐसे पत्तोंवाले पेड़ रखे गये हैं जो छाया तो देते हैं साथ ही मन्द प्रकाश भी। मैं इन पौधों की ज़मीन को हमेशा ठण्डा रखने की कोशिश करता हूँ और मैं सोच रहा हूँ कि जिन दिनों गरमी बहुत ज़्यादा हो तो पौधों में तीसरे पहर पानी दूँ और सवेरे के समय छिड़काव करूँ।

इस बात की सावधानी बरतना कि पानी बहुत ज़्यादा न दिया जाये, इससे पौधे सड़ सकते हैं।

२९ जुलाई १९३८

प्रायः वर्षा इतनी ज़ोर की होती है कि ज़्यादा अच्छा यह है कि गुलाब के पौधों पर सीधा पानी न पड़े।

२९ जुलाई १९३८

माँ,

'क' के नये मकान में बेल का एक पेड़ है। यह कँटीला पेड़ है जिसकी कुछ शाखाएँ नीची हैं जो रास्ते में आती हैं। 'क' का सुझाव है कि नीचे की शाखाएँ काट दी जायें और पेड़ को ऊपर फैलने दिया जाये। यह पेड़ लगभग १० फ़ीट ऊँचा है।

शाखाओं को काटना हमेशा दुःखद होता है—क्या उससे पेड़ भी ख़राब न हो जायेगा?—और

सुविधा भी बहुत ज़्यादा न होगी।

आशीर्वाद।

१ सितम्बर १९३८

माँ,

'रेड हाउस' में गुलाब के तीस पौधे बहुत रोगी मालूम होते हैं। 'विजी हाउस' से जो पौधे लाये गये हैं उनकी हालत तो पहले से भी ज़्यादा ख़राब है। इन पौधों की बीमारी का एक कारण यह भी हो सकता है कि ये समुद्र के बहुत नज़दीक हैं और नमी-भरी नमकीन समुद्री हवा शायद उन पर बुरा असर करती है। लेकिन क्या यह सच्चा कारण है? अगर ऐसा है तो क्या मैं इन्हें धीरे-धीरे प्रतिरोपित होने देने की जगह एकदम हटा दूँ?

निश्चय ही समुद्र के निकट होना हानिकारक है। जितनी जल्दी हो सके इन्हें हटा देना अच्छा है।

१२ सितम्बर १९३८

माँ,

गुलाब के पौधों को ऊपर-ऊपर से कुरेदते हुए हम बहुधा ऐसी जड़ों तक जा पहुँचते हैं जो तल से लगभग एक इंच ही नीचे होती हैं। जड़ें लगभग सतह पर ही आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में हम जड़ों को हानि पहुँचाये बिना पौधों को काफ़ी खाद और मिट्टी नहीं दे पाते।

मुझे लगता है कि मुझे जड़ों को काटने नहीं देना चाहिये। लेकिन तब उनके पोषण का सवाल आता है। अब मैं लगभग सभी पौधों को हड्डी की खाद देता हूँ, और किया क्या जा सकता है?

जड़ें सतह पर इसलिए आती होंगी कि नीचे की ओर घुसते समय उन्हें गमले से प्रतिरोध मिलता होगा। क्या गमले को इस तरह धरती के अन्दर गाड़ देना अच्छा है? मैंने हमेशा यही सुना है कि यह अच्छा नहीं है क्योंकि इससे कीड़े बढ़ते हैं।

इस सन्दर्भ में मैं यह जानना चाहूँगा कि क्या आप 'सल्फ़ेट ऑफ़ अमोनिया', 'सल्फ़ेट ऑफ़ पोटाश', 'सुपरफॉसफ़ेट ऑफ़ लाइम' इत्यादि रसायनों का गुलाब के पौधों के लिए उपयोग पसन्द करती हैं? मुझे याद आता है कि मैंने कहीं पढ़ा था कि ऐसी रासायनिक खादों का उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये अन्यथा ये विनाशकारी हो सकती हैं। इसलिए मैं अभी तक इनके उपयोग से बचता रहा हूँ। लेकिन अगर

आप स्वीकृति दें तो मैं आपको सूचना दूँगा कि गुलाब की खेती करने वालों ने किन औषिधियों का और किस मात्रा में उनका उपयोग करने का सुझाव दिया है?

ज़्यादा अच्छा यह जानना होगा कि क्या विशेषज्ञों ने इन रासायनिक चीज़ों का उपयोग करने की सिफ़ारिश की है।

आशीर्वाद।

१५ सितम्बर १९३८

माँ,

'ख' के सुझाव में, जो कल आपके पास भेजे गये थे और जिनके लिए आपने अनुमति दे दी है, हम पहले अपनी ही खाद और कुछ व्यक्तिगत घरों की खाद से काम शुरू करेंगे।

आपने दो विकल्प दिये हैं। एक तो यह कि खाद के लिए अलग व्यवस्था की जाये; दूसरा यह कि खाद की पूरी ज़िम्मेदारी बाग़बानी-विभाग ले ले। हम जानना चाहेंगे कि आपको इन दोनों में से कौन-सा पसन्द है।

मुझे दोनों में से किसी भी उपाय के लिए वरीयता नहीं है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे किस तरह कार्यान्वित किया जाता है। जो कुछ भी अच्छी व्यवस्था और सामञ्जस्य के साथ, सावधानी के साथ समस्त अपव्यय और लड़ाई-झगड़े से बच कर किया जाये उसे मेरा पूर्ण समर्थन प्राप्त होगा।

आशीर्वाद।

१७ सितम्बर १९३८

माँ,

कुछ गुलाब के पौधे दोषपूर्ण जल-निकास या प्रतिरोपण के समय मिट्टी की प्रकृति के कारण अत्यधिक नमी की वजह से कष्ट पाते हैं और ऐसे पौधों को वर्षा से बचाने के लिए सुरक्षित स्थान पर रखना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि जब कभी बारिश हो या बारिश की सम्भावना हो तो उन्हें छायादार स्थानों में रखना और जब आकाश स्वच्छ हो तो फिर से धूप में रखना। क्या आपको यह पसन्द है?

मेरा ख़याल है कि पौधे यह पसन्द नहीं करते कि उन्हें बहुत अधिक हिलाया-डुलाया जाये...

१७ सितम्बर १९३८

माँ,

कभी-कभी गिलहरियाँ 'प्रॉस्पेरिटी' और 'रोज़री' की छतों पर रखे गुलाबों की कोमल कोपलों को निर्दयता से कुतर डालती हैं। आज मैंने गमलों और छतों पर बहुत-सी कोपलों को बिखरा हुआ पाया। मैं गिलहरियों को इस विध्वंस से कैसे रोक सकता हूँ?

यह असम्भव मालूम होता है। 'ज' ने सब तरह की चीज़ों के परीक्षण किये, लेकिन कभी सफलता न मिली। उनके विध्वंस को रोकने के लिए इन जानवरों को हम खुल कर खाना देते हैं परन्तु लाभ कुछ नहीं होता।

२६ सितम्बर १९३८

माँ,

हमारे मालियों में से एक माली, आदिमूलम् के बारे में एक आम शिकायत है कि यद्यपि वह जवान और स्वस्थ है परन्तु बुद्धि में मन्द, आदतों से आलसी, समय बरबाद करने वाला और दिये गये काम के बारे में लापरवाह है। और फिर उसे जो वेतन मिलता है उससे वह असन्तोष प्रकट करता है और कभी-कभी हम लोगों के साथ अपमान-जनक व्यवहार भी करता है। उसकी आदतों को कैसे सुधारा जाये या उसके स्वभाव को कैसे बदला जाये?

यह एकदम असम्भव है। साधक के लिए भी अपने बाहरी स्वभाव को बदलना बहुत कठिन है; तुम एक साधारण अशिक्षित आदमी से इसकी आशा कैसे कर सकते हो?

४ अक्तूबर १९३८

माँ,

जब 'क्ष' दोपहर के भोजन के बाद आराम कर रहा था तो उसने नारायण स्वामी और मुरुगेश नामक दो मालियों को चन्दन के पेड़ की टूटी हुई शाखा की ओर जाते देखा। पहले मुरुगेश ने उसमें से एक टुकड़ा तोड़ना चाहा, पर असफल रहा। तब नारायण स्वामी ने शाखा को अपने चाकू से काटना शुरू किया। 'क्ष' ने उसे रँगे हाथों पकड़ लिया। जिरह करने पर पता लगा कि इन मालियों ने रामस्वामी के साथ मिल कर सवेरे भी कुछ टुकड़े काटने की कोशिश की थी। आप हमें क्या करने की सलाह देती हैं?

अमृत से करारी डाँट और यह चेतावनी कि अगर उन्होंने फिर से ऐसा किया तो उन्हें निकाल

दिया जायेगा।

१९ अक्तूबर १९३८

माँ,

कल हमने खाद का जो ढेर ख़रीदा था उसके बारे में कुछ कठिनाई उठ खड़ी हुई है। हमने व्यापारी के आश्वासन पर यह मान लिया था कि एक ढेर में कम-से-कम सात गाड़ी खाद होगी और हमने सात रुपये में बात पक्की कर ली। हमने भी यही समझा कि ढेर में सात गाड़ी खाद तो ज़रूर होगी, परन्तु अब हम देखते हैं कि एक ढेर में बस चार गाड़ी ही है।

खादवाले ने सात रुपये लेने के लिए अपना आदमी भेजा, लेकिन मैंने केवल चार रुपये ही दिये हैं और खादवाले को लिख दिया है कि हमने तुम्हारे इस आश्वासन पर सात रुपये दाम ठीक किया था कि इसमें सात गाड़ी खाद होगी, लेकिन अब देखते हैं कि इसमें केवल चार गाड़ी खाद है। आशा है इसके लिए तुम्हें चार रुपये स्वीकार करने में आपत्ति न होगी।

हमने उस आदमी से चार रुपये की रसीद पर हस्ताक्षर ले लिये। अगर खादवाला मामला सुलझाने के लिए अपने-आप आये या किसी को भेजे तो क्या हमें दाम कम करने की कोशिश करनी चाहिये या जो ठीक किया गया था उसके अनुसार सात रुपये दे देने चाहियें?

अगर वह सात रुपये के लिए आग्रह करे तो तुम इन्कार कैसे कर सकते हो? जब तुमने सौदा ठीक किया था तो तुम्हें सारे ढेर के लिए सात रुपये ठीक करने की जगह एक गाड़ी के लिए एक रुपया ठीक करना चाहिये था।

आशीर्वाद।

२५ अक्तूबर १९३८

माँ,

आज दोपहर को दो बकरियाँ 'सान्ताल हाउस' में घुस आयीं और बड़ी निर्दयता के साथ गुलाब के चार पौधों की कोंपलें और नरम पत्तियाँ चर गयीं। यह एक दयनीय दृश्य है। हमारी एक महीने की मेहनत कुछ मिनटों में समाप्त हो गयी। हम कोशिश करेंगे कि मकान का दरवाज़ा हमेशा बन्द रहे और उस मकान में रहने वालों से भी इसके लिए कहेंगे। लेकिन एक दरवाज़े में बाहर से बन्द करने के लिए कुण्डी नहीं है। क्या हम अमृत से कुण्डी लगवाने के लिए कह सकते हैं?

हाँ, मैंने कई बार कहा है कि दरवाज़े बन्द *रहने चाहियें*। तुम अमृत से ताले की व्यवस्था के लिए कह सकते हो।

२८ अक्तूबर १९३८

(वाटिका सेवा-समिति के सदस्यों में मतभेद के बारे में)

मेरा निश्चय यह है कि तुम सबको अपनी स्वार्थपूर्ण, अहंकारी-भरी प्रतिक्रियाएँ छोड़ कर सच्चे साधकों के भाव से, यौगिक दृष्टिकोण से समस्याओं का सामना करना चाहिये।

विशेष रूप से ऐसा लगता है कि 'त्र' ने तो ऐसा नियम बना लिया है कि दूसरे जो कुछ निश्चित करें उसका वह विरोध करे और उस पर बहस करे। मैं इस प्रकार की मनोवृत्ति को स्वीकार नहीं करती।

और मैं उस बात को दोहराऊँगी जो मैंने "माताजी के वचन" पुस्तक में कही है, "जब लोग झगड़ते हैं तो भूल सभी की होती है।"

सबको आशीर्वाद।

जून १९३९

माँ,

आपने हमसे बहसें बन्द कर देने के लिए कहा है। उसके अनुसार हम आज से बाग़बानी-विभाग की अपनी दैनन्दिन सभा को ख़त्म करते हैं। यह ठीक है न?

हाँ, कम-से-कम अभी के लिए—और तब तक के लिए जब तक कि मन अधिक शान्त और प्राणिक प्रतिक्रियाएँ अधिक संयमित न हो जायें।

आशीर्वाद। २९ जून १९३९

माँ,

हम आपको सूचित करना चाहेंगे कि यद्यपि 'क्ष' बाग़बानी-विभाग की खाद का सामान्य रूप से निरीक्षण करता है लेकिन ऐसा लगता है कि इस दिशा में उसे कोई विशेष अनुभव नहीं है। अतः, हमने सोचा कि इस काम का ज़िम्मा 'क्ष' और 'ज्ञ' दोनों को दे दिया जाये, लेकिन 'ज्ञ' को भय है कि इससे असामञ्जस्य पैदा हो सकता है, अतः हमारा सुझाव है कि सारा काम 'ज्ञ' और 'त्र' को ही दे दिया जाये।

मैं इस तरह के भय का अनुमोदन नहीं करती। हर एक का कर्तव्य है कि न केवल सभी झगड़ों को बल्कि इस भाव तक को भी समाप्त कर दे कि झगड़ा हो सकता है।

१९३९ **श्रीमाँ**

मन और सत्य

चूँकि मनुष्य मानसिक प्राणी है इसलिए स्वभावतः वह कल्पना करता है कि मन ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक, कर्ता, स्रष्टा या विश्व का अनिवार्य कार्यवाहक है। लेकिन यह भूल है : यहाँ तक कि ज्ञान के लिए भी मन ही एकमात्र या यथासम्भव सबसे बड़ा यन्त्र नहीं है, एकमात्र अभीप्सा करने वाला या खोज करने वाला नहीं है। मन प्रकृति की विशाल और यथार्थ अवचेतन क्रिया और देवत्व के विशालतर, अतिचेतन अमोघ कर्म के बीच एक भद्दा विष्कम्भक है।

ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे मन कर सकता हो और जो मन की अचञ्चलता और विचारशून्य स्थिरता में उससे अधिक अच्छी तरह न की जा सकती हो।

जब मन चुप होता है तो 'सत्य' को नीरवता की पवित्रता में अपनी बात सुनाने का अवसर मिलता है।

सत्य को मन के विचार द्वारा नहीं, केवल तादात्म्य और नीरव दर्शन द्वारा पाया जा सकता है। सत्य शाश्वत देशों के स्थिर निःशब्द प्रकाश में रहता है। वह तर्कपूर्ण विवाद के शोर और बकवास में हस्तक्षेप नहीं करता।

मन में विचार अधिक-से-अधिक सत्य का चमकदार और पारदर्शक वसन हो सकता है; वह उसका शरीर तक नहीं है। वसन को नहीं, उसके आर-पार देखो तो शायद तुम उसके रूप का कुछ संकेत पा सको। सत्य का एक विचार-शरीर हो सकता है लेकिन वह सहज अतिमानसिक 'विचार' और 'शब्द' होगा जो पूरी तरह से रूप लेकर प्रकाश में से उछल पड़ेगा। उसमें कठिन मानसिक जालसाजी और थिगड़े नहीं होते। अतिमानसिक विचार सत्य तक पहुँचने का साधन नहीं है, उसे व्यक्त करने का एक तरीक़ा है क्योंकि अतिमानस में सत्य स्वयं अपने ऊपर आधारित या स्वयम्भू होता है। यह प्रकाश से निकला बाण होता है, उस तक पहुँचाने वाला सेतु नहीं।

आन्तरिक रूप से विचार और शब्द के प्रति बन्द रहो, अपने अन्दर निश्चल रहो। ऊपर प्रकाश को और बाहर की ओर विस्तृत वैश्व चेतना को देखो जो तुम्हारे चारों ओर है। ज्योति और विस्तार के साथ अधिकाधिक एक होओ। तब ऊपर से तुम्हारे लिए सत्य का उदय होगा और वह चारों ओर से तुम्हारे अन्दर प्रवाहित होगा।

लेकिन यह तभी होता है जब मन अपनी शुद्धि में नीरवता से कम तीव्र न हो, क्योंकि अशुद्ध मन शीघ्र ही भ्रामक प्रकाशों और मिथ्या आवाज़ों से, अपनी व्यर्थ की अहम्मन्यता के उदात्तीकरण या प्रतिध्वनि से और अपने मतों या गुप्त घमण्ड, दर्प, महत्त्वाकांक्षा, कामुकता, लोभ या कामना के प्रत्युत्तरों से भर जायेगा। भागवत आवाज़ों की अपेक्षा दानव और भूत-पिशाच उसके साथ ज़्यादा आसानी से बोलेंगे।

नीरवता अनिवार्य है, लेकिन साथ ही विस्तार की ज़रूरत है। अगर मन नीरव नहीं है

तो वह ऊर्ध्वलोक के सत्य के प्रकाशों और आवाज़ों को नहीं पा सकता और अगर पा भी ले तो उनके अन्दर अपनी झिलमिलाती जिह्वाओं और अन्ध आडम्बरभरी बकवास को मिला देगा। वह सक्रिय, उद्धत और शोर मचाने वाला मन जो कुछ पाता है उसे बिगाड़ कर, विकृत करके रख देता है। अगर वह विस्तृत नहीं हो तो वह सत्य की समर्थ शक्ति और सृजनात्मक शक्ति को अपने अन्दर नहीं रख सकता। उसके अन्दर प्रकाश का कुछ खेल हो सकता है परन्तु वह संकीर्ण, सीमित और निर्वीर्य होगा; या जो शक्ति उतर रही है वह कोठरी में बन्द होकर निष्फल हो जाती है और इस विद्रोही विजातीय क्षेत्र से अपनी विशाल ऊँचाइयों में वापस चली जाती है। और अगर कोई चीज़ उतर भी आये और बनी रहे तो वह दलदल में मोती होती है; क्योंकि प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता या केवल एक पतली तीव्रता ही होती है जो बहुत संकीर्ण रूप में ऊपर के शिखरों की ओर इशारा करती है, परन्तु कुछ रख नहीं सकती और न अपने चारों ओर के जगत् में कुछ फैला ही सकती है।

CWSA खण्ड १२, पृ. २५५-५६ **श्रीअरविन्द**

अपने अहं को उतार फेंकना, एक व्यर्थ परिधान की तरह गिर जाने देना।

फल को देखते हुए इसके लिए प्रयत्न करना सार्थक है। और फिर पथ पर तुम अकेले नहीं हो। यदि तुम्हारे अन्दर भरोसा हो तो तुम्हें सहायता मिलती है।

यदि एक निमिष के लिए भी 'कृपा' के साथ तुम्हारा सम्पर्क हुआ है, उस अलौकिक 'कृपा' के साथ जो तुम्हें साथ लिये चलती है, पथ पर दौड़ाये लिये जाती है, तुम्हें यह भी भुला देती है कि तुम्हें जल्दी करनी है, यदि उस 'कृपा' के साथ तुम्हारा निमिष-मात्र के लिए भी सम्पर्क हुआ है तो तुम्हें भूल न जाने का प्रयास करना चाहिये। और, जिसके जीवन में गुत्थियाँ नहीं हैं ऐसे शिशु की निष्कपटता और सरलता के साथ, अपने-आपको 'कृपा' के हाथ में सौंप दो और उसे कार्य करने दो।

आवश्यकता है इस बात की कि जो कुछ प्रतिरोध करे उसकी मत सुनो; जो खण्डन करे उसका विश्वास न करो—एक भरोसा रखो, सच्चा भरोसा, एक विश्वास जिसके द्वारा तुम अपने-आपको पूरी तरह बिना हिसाब-किताब के, बिना सौदेबाज़ी के दे दो। भरोसा! ऐसा भरोसा जो कहे, "यह कर दो, मेरे लिए यह कर दो, मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ।"

यही है सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा।

१२ नवम्बर १९५८ श्रीमातृवाणी, खण्ड ९, पृ. ४६४

जापान के बारे में

आपने जापान के बारे में मेरे विचार माँगे हैं। जापान के बारे में लिखना एक कठिन काम है। वहाँ के बारे में इतनी सारी चीज़ें लिखी जा चुकी हैं, बहुत-सी ऊट-पटाँग चीज़ें भी... लेकिन ये ज़्यादातर देश नहीं, देशवासियों के बारे में हैं। वह देश ऐसा अद्‌भुत, सुरम्य, बहुमुखी, मनोहर, अप्रत्याशित, जंगली या मधुर है! वह देखने में—उत्तरध्रुवीय ठण्डे प्रदेशों से लेकर उष्ण कटि-प्रदेशीय प्रदेशों तक—दुनिया-भर के सभी देशों का समन्वय लगता है। किसी कलाकार की आँख उसकी ओर से उदासीन नहीं रह सकती। मेरा ख़याल है कि जापान के बहुत-से सुन्दर वर्णन किये जा चुके हैं; मैं अपनी ओर से उनमें एक और नहीं बढ़ा रही, मेरा वर्णन निश्चित रूप से उनकी अपेक्षा बहुत कम रोचक होगा। लेकिन आमतौर पर जापानियों को ग़लत समझा गया है और ग़लत रूप में पेश किया गया है और इस विषय पर कहने-लायक़ कुछ कहा जा सकता है।

अधिकतर विदेशी लोग जापानियों के उस भाग के सम्पर्क में आते हैं जो विदेशियों के संसर्ग से बिगड़ चुका है—ये पैसा कमाने वाले, पश्चिम की नक़ल करने वाले जापानी हैं। वे नक़ल करने में बहुत चतुर हैं और उनमें ऐसी काफ़ी सारी चीज़ें हैं जिनसे पश्चिम के लोग घृणा करते हैं। अगर हम केवल राजनेताओं, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के जापान को देखें तो यही लगेगा कि यह यूरोप के शक्तिशाली देशों से बहुत ज़्यादा मिलता-जुलता देश है, लेकिन उसमें ऐसे देश की जीवनी शक्ति और घनीभूत ऊर्जा भरी है जो अभी तक अपनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचा है।

यह ऊर्जा जापान की एक बहुत मज़ेदार विशेषता है। वह हर जगह, हर एक बूढ़े, बच्चे, मर्द, औरत, विद्यार्थी, मज़दूर, सभी के अन्दर दिखायी देती है। शायद "नये अमीरों" को छोड़ कर सभी के जीवन में अद्‌भुत घनीभूत ऊर्जा का भण्डार दिखायी देता है। प्रकृति और सौन्दर्य के आदर्श प्रेम के साथ-ही-साथ यह सञ्चित शक्ति भी जापानियों की विशिष्ट और सबसे अधिक व्यापक विशेषता है। उदयाचल के उस प्रदेश में पाँव रखते ही आप इस चीज़ को देख सकते हैं, जहाँ इतने सारे लोग और इतनी निधियाँ एक छोटे-से टापू में जमा हैं।

यदि आपको उन जापानियों से मिलने का सुअवसर मिले, जैसा कि हमें मिला था, जिनमें अभी तक प्राचीन सामुराई का शौर्य और आभिजात्य अछूता है तो आप समझ सकते हैं कि सच्चा जापान क्या है, आप उनकी शक्ति के रहस्य को पा सकते हैं। वे चुप रहना जानते हैं और यद्यपि उनमें बहुत अधिक तीव्र संवेदनशीलता होती है, लेकिन मैं जिन लोगों से मिली हूँ उनमें ये सबसे कम इसका प्रदर्शन करने वाले लोग हैं। यहाँ एक मित्र तुम्हारे प्राण बचाने के लिए बड़ी ही सरलता से अपनी जान दे सकता है; लेकिन वह कभी तुम्हारे सामने यह न कहेगा कि उसे तुम्हारे लिए इतना गहरा और निःस्वार्थ प्रेम है। वह इतना तक भी नहीं कहेगा

कि वह तुमसे प्रेम करता है। और अगर तुम बाहरी आभासों के पीछे छिपे हुए हृदय को न पढ़ सको तो तुम्हें बहुत अच्छे बाह्य शिष्टाचार के सिवाय कुछ न दिखायी देगा जिसमें सहज भावों के लिए कोई स्थान नहीं होता। फिर भी भाव होते हैं और बाहर अभिव्यक्त न होने के कारण और भी ज़्यादा प्रबल होते हैं और यदि कभी मौक़ा आ जाये तो उनके किसी काम द्वारा अचानक प्रेम की गहराई का पता चलता है, वह भी विनयशील और कई बार छिपा हुआ।

यह जापानी विशेषता है। संसार की जातियों में सच्चे जापानी, जो पश्चिम के प्रभाव में नहीं आये हैं, शायद सबसे कम स्वार्थी होते हैं। और यह निःस्वार्थता पढ़े-लिखे, विद्वान् या धार्मिक लोगों की ही विशेषता नहीं है। यह समाज के सभी स्तरों में पायी जाती है। यहाँ कुछ लोकप्रिय और अत्यन्त मनोहर उत्सवों को छोड़ कर धर्म-रूढ़ि या सम्प्रदाय नाम की चीज़ नहीं है। यह उनके दैनिक जीवन में आत्म-त्याग, आज्ञा-पालन और आत्म-समर्पण के रूप में दिखायी देता है।

जापानियों को बचपन से ही सिखाया जाता है कि जीवन कर्तव्य है, सुख नहीं। वे उस कर्तव्य को स्वीकार करते हैं। प्रायः कठोर और कष्टकर कर्तव्य को सहनशील आत्म-समर्पण के साथ स्वीकार करते हैं। वे अपने-आपको सुखी बनाने के विचार से परेशान नहीं करते। यह सारे देश के जीवन को आनन्द और मुक्त अभिव्यक्ति नहीं, एक असाधारण आत्म-नियन्त्रण प्रदान करता है। यह तनाव, प्रयास और मानसिक तथा स्नायविक दबाव का वातावरण पैदा करता है, उस तरह की आत्मिक शान्ति नहीं देता जैसी, उदाहरण के लिए, भारत में अनुभव की जा सकती है। वास्तव में, जापान में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसकी तुलना भारत में व्याप्त शुद्ध भागवत वातावरण से की जा सके। यह वातावरण ही भारत देश को ऐसा अनोखा और बहुमूल्य बनाता है। जापान के मन्दिरों में, वहाँ के पवित्र दुर्गम मठों में, जो कभी-कभी ऊँचे पर्वत की चोटी पर बने होते हैं, बड़े-बड़े देवदारु के पेड़ों से ढके होते हैं, जो नीचे की दुनिया से बहुत दूर हैं, उनमें भी यह वातावरण नहीं है। वहाँ बाहरी नीरवता है, विश्राम और निश्चलता है, लेकिन शाश्वत का वह आनन्दमय संवेदन नहीं है जो एकमेव की जीवन्त सन्निधि से आता है। यह सच है कि यहाँ सब कुछ एकता के मन और आँखों को सम्बोधित करता है—मनुष्य की भगवान् से एकता, प्रकृति की मनुष्य से एकता और मनुष्य-मनुष्य की एकता से। लेकिन यह एकता कम ही अनुभव की जाती है या जीवन में उतारी जाती है। निश्चय ही, जापानियों में उदार आतिथ्य, पारस्परिक सहायता, पारस्परिक अवलम्ब की भावना बहुत विकसित है। लेकिन अपने संवेदनों, विचारों और सामान्य क्रियाओं में यह सबसे अधिक व्यक्तिवादी और पृथकतावादी जाति है। इन लोगों के लिए रूप प्रधान है, रूप आकर्षक है। वह अभिव्यञ्जक भी होता है। वह किसी अधिक गहरे सामञ्जस्य या सत्य, प्रकृति या जीवन के किसी विधान की कहानी कहता है। प्रत्येक रूप, प्रत्येक क्रिया, बग़ीचे की व्यवस्था से लेकर प्रसिद्ध चाय-समारोह तक, प्रतीकात्मक है, और कभी-कभी एक बहुत ही सादी और सामान्य चीज़ में एक गहरा, अलंकृत, इच्छित प्रतीक मिल जाता है जिसे अधिकतर लोग जानते और समझते हैं। लेकिन यह जानना

और समझना केवल बाहरी और परम्परागत होता है। वह आध्यात्मिक अनुभवों से आने वाला जीवन्त सत्य नहीं होता जो दिल और दिमाग़ को प्रबुद्ध करे। जापान मौलिक रूप में संवेदनों का देश है। वह अपनी आँखों के द्वारा जीता है। उस पर सौन्दर्य का एकछत्र राज्य है और उसका वातावरण मानसिक और प्राणिक क्रिया-कलाप, अध्ययन, निरीक्षण, प्रगति और प्रयास को उत्तेजित करता है, लेकिन शान्त, आनन्दमय चिन्तन-मनन को नहीं। लेकिन इस सारे क्रिया-कलाप के पीछे एक उच्च अभीप्सा उपस्थित है जिसे उस जाति का भविष्य ही व्यक्त करेगा।
९ जुलाई १९१७ **श्रीमातृवाणी**, खण्ड २, पृ. १६९-७१

शरीर तथा दिव्य जीवन

सामान्य तौर पर, आध्यात्मिक परम्परा में शरीर को एक बाधा के रूप में देखा जाता है जो आध्यात्मिकता पाने या परिवर्तित होने में अक्षम होता है और माना जाता था कि वह परम में आध्यात्मिक परिपूर्ति कभी न सम्पन्न कर पायेगा, न अपनी व्यक्तिगत सत्ता को परमेश्वर में विलीन ही कर पायेगा। लेकिन अगर हम यह मान लें कि यही हमारा भाग्य है और शरीर की यही उचित भूमिका है और उस साधना के लिए यह ठीक ही है जो धरती को मात्र अज्ञान के एक क्षेत्र के रूप में और पार्थिव जीवन को इस रूप में देखती है कि यह जीवन एक माया है और हमें यहाँ बस इसी की तैयारी करनी है कि इससे अनासक्त हो जायें, क्योंकि आध्यात्मिक मुक्ति के लिए यही अनिवार्य शर्त है, लेकिन उस साधना के लिए यह एकदम से अपर्याप्त है जो धरती पर भागवत जीवन की कल्पना करती है और पृथ्वी को इस रूप में देखती है कि यहीं आत्मा को शरीर धारण करना है और धरती का पूर्ण उद्देश्य यही है। अगर सत्ता का सम्पूर्ण रूपान्तर ही हमारा लक्ष्य है तो शरीर का रूपान्तर उसका एक अनिवार्य भाग होना चाहिये; उसके बिना पृथ्वी पर कोई भी दिव्य जीवन सम्भव नहीं है।

शरीर का अतीत का क्रमविकास और विशेषकर उसकी पाशविक प्रकृति और पाशविक इतिहास ही इस परिपूर्ति के मार्ग में बाधक बन कर आ खड़ा होता है। यह शरीर, जैसा कि हमने देखा, अचेतन की उपज है, वह स्वयं अचेतन या बस अर्ध-चेतन है; यह निश्चेतन जड़-द्रव्य के रूप में उभरा, उसमें जीवन का विकास हुआ और जड़-द्रव्य से वह एक जीवन्त वृद्धि बन गया, उसमें मन विकसित हुआ और वनस्पति की अवचेतना तथा प्रारम्भिक मौलिक मन या पशु की अपूर्ण बुद्धि में से उसने बौद्धिक मन और मनुष्य के अधिक प्रज्ञामय मन का विकास किया और अब यह शरीर हमारे पूर्ण आध्यात्मिक उद्यम का भौतिक आधार, पात्र और साधन बन गया है। यह सच है कि इसका पशुवत् स्वभाव और इसकी स्थूल सीमाएँ आध्यात्मिक पूर्णता के मार्ग में एक बाधा ही होती हैं; लेकिन यह तथ्य कि इसने अपनी अन्तरात्मा को विकसित कर लिया है, इस बात का प्रमाण है कि अब मनुष्य अधिकाधिक विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता

है और आत्मा की वेदी और अभिव्यक्ति बन सकता है, जड़-भौतिक की गुह्य आध्यात्मिकता व्यक्त कर सकता है, अर्ध नहीं बल्कि पूरी तरह से सचेतन बन सकता और आत्मा के साथ अमुक एकत्व पा सकता है। इतना तो उसे करना ही चाहिये, और अगर उसे दिव्य जीवन का पूर्ण यन्त्र बनना है तो उसे अपने मौलिक पार्थिव स्वभाव के परे जाना ही होगा।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५४०-४१ **श्रीअरविन्द**

यहाँ जिस योग का अनुसरण किया जाता है उसका उद्देश्य दूसरे योगों से अलग है—क्योंकि इस योग का उद्देश्य न केवल अज्ञानी जागतिक चेतना से निकल कर भागवत चेतना में प्रवेश करना है बल्कि उस भागवत चेतना की अतिमानसिक शक्ति को नीचे मन, प्राण तथा शरीर में उतारना है ताकि वह उनका रूपान्तरण कर दे, यहाँ भगवान् को अभिव्यक्त कर, जड़-भौतिक में भागवत जीवन का निर्माण कर दे। यह एक अत्यन्त मुश्किल लक्ष्य है और अत्यन्त कठिन योग; कइयों को, या यह कहें कि अधिकतम को यह योग असम्भव लगेगा। जगत् की चेतना की सभी सामान्य अज्ञानी शक्तियाँ—जो यहाँ पूरी तरह से जमी हुई हैं—इस नूतन योग के विरुद्ध हैं, इसे नकारती हैं और इसके रास्ते बाधा बन कर आ खड़ी होती हैं और तब साधक अपने मन, प्राण और शरीर को इन घोरतम बाधाओं से घिरा पायेगा जो उसकी उपलब्धि में अड़ंगा लगायेंगी। अगर तुम अपने आदर्श पर जी-जान से डटे रहो, सभी बाधाओं का दृढ़ता से सामना करो, अपने अतीत और उसके पुछल्लों को पीछे कहीं दूर छोड़ दो, सब कुछ का त्याग कर दो और इस भागवत सम्भावना की चरितार्थता के लिए हर तरह का ख़तरा मोलने के लिए तैयार रहो, तभी, केवल तभी तुम अपनी अनुभूति द्वारा इस जगत् के पीछे का 'सत्य' खोज निकालने की आशा कर सकते हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९-२० **श्रीअरविन्द**

... पार्थिव परिवर्तन की सम्पूर्णता में किसी भी मूलभूत तत्त्व को छोड़ना नहीं होगा। जड़-पदार्थ को भी आध्यात्मिक सत्य अथवा भगवान् के प्राकट्य का साधन बनाया जा सकता है।

इसमें दोहरी कठिनाई है—मनोवैज्ञानिक तथा सांसारिक। पहली है, अपुनरुज्जीवित पशुता का प्राण पर प्रभाव—विशेषकर शरीर की मूल प्रवृत्ति, आवेग, कामनाएँ। दूसरी है, हमारी सांसारिक संरचना तथा जैव यान्त्रिकता का परिणाम जो उच्चतर दिव्य प्रकृति की गत्यात्मकता पर अपना अवरोध आरोपित करता है। इन दोनों कठिनाइयों में से पहली कठिनाई को नियन्त्रित करना अधिक आसान है क्योंकि यहाँ उच्चतर प्रकृति का संकल्प हस्तक्षेप कर सकता है तथा शरीर पर उच्चतर प्रकृति की शक्ति को आरोपित कर सकता है। शरीर के इन दोनों आवेगों तथा सहज प्रवृत्तियों में से कुछ, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के द्वारा विशेष रूप से हानिकारक पाये गये हैं तथा शरीर के तापसिक त्याग को बहुत महत्त्व दिया गया है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५४२-४३ **श्रीअरविन्द**

वास्तव में हम लोग, चाहे निश्चेतन रूप से ही सही, अपने भौतिक अस्तित्व की आपूर्ति तथा शरीर में मानसिक, प्राणिक तथा अन्य क्षमताओं की क्षतिपूर्ति के लिए निरन्तर वैश्व ऊर्जा, जड़-द्रव्य में निहित शक्ति ग्रहण करते रहते हैं। हम इसे प्रकृति द्वारा व्यवस्थित एक विशिष्ट साधन के माध्यम से अदृश्य प्रक्रियाओं के द्वारा सीधे ग्रहण करते हैं। श्वास की प्रक्रिया इनमें से एक है, नींद और विश्राम भी। परन्तु प्रकृति ने स्थूल भौतिक शरीर के भरण-पोषण तथा इसकी कार्य-प्रणाली और आन्तरिक क्षमताओं के नवीनीकरण के लिए भोजन के रूप में बाह्य पदार्थ को अन्दर ग्रहण किये जाने के लिए चुना है। इसके साथ ही जुड़ा हुआ है पाचन, जो आत्मसात् हो सकता हो उसको आत्मसात् करना और जो आत्मसात् नहीं हो सकता हो उसका निराकरण। यह अपने-आपमें केवल भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। परन्तु शरीर में स्वास्थ्य और शक्ति की सुनिश्चितता के लिए इसने शारीरिक व्यायाम तथा अनेक प्रकार के खेल-कूद के आवेग, ऊर्जा के व्यय तथा नवीनीकरण के लिए अनेक विधियों, अनेक प्रकार की गतिविधियों तथा परिश्रम करने की छूट अथवा ज़रूरत दे दी है। नवीन जीवन में, कम-से-कम आरम्भ में, भोजन की ज़रूरत से पूर्ण इनकार या स्थापित स्वाभाविक प्रणाली से इनकार करना अपूर्ण रूप से रूपान्तरित शरीर के लिए आवश्यक नहीं होगा और न यह परामर्शनीय ही होगा। और जब भी इन चीज़ों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी तब यह आत्मा के सचेतन संकल्प के परिणाम-स्वरूप स्वतः आ जायेगा, जो स्वयं जड़-द्रव्य का भी अव्यक्त संकल्प होगा, क्योंकि यह एक अत्यावश्यक क्रमविकासात्मक आवेग है, एक काल की सृजनात्मक रूपान्तरकारी क्रिया है अथवा परात्पर से एक अवतरण है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५४५-४६ **श्रीअरविन्द**

माँ, यहाँ प्रचलित शारीरिक शिक्षा में हमारा उद्देश्य है: "शरीर पर अधिकाधिक नियन्त्रण पाना", है न? और पिछली बार हमने जो पढ़ा था उसमें श्रीअरविन्द ने कहा है कि हठयोग और तान्त्रिक पद्धतियाँ शरीर पर बहुत बड़ा नियन्त्रण प्रदान करती हैं, तो हम अपनी प्रणाली में इन पद्धतियों को शामिल क्यों नहीं करते?

ये शरीर पर क्रिया करने की गुह्य प्रक्रियाएँ हैं—कम-से-कम तान्त्रिक पद्धतियाँ—जब कि उन्नति की आधुनिक पद्धतियाँ सामान्य भौतिक प्रक्रियाओं का व्यवहार करती हैं, ताकि शरीर अपनी वर्तमान अवस्था में जितनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है, कर ले... मैं तुम्हारा प्रश्न पूरी तरह पकड़ नहीं पायी। ये प्रक्रियाएँ पूणर्तया भिन्न हैं।

इन सब पद्धतियों का आधार है वह शक्ति जो सचेतन संकल्प द्वारा जड़-तत्त्व पर प्रयुक्त की जाती है। साधारणतः यह एक ऐसी पद्धति है जिसका किसी व्यक्ति ने काफ़ी सफलता के साथ प्रयोग किया और इसे एक क्रिया-सिद्धान्त के तौर पर स्थिर कर औरों को बताया और फिर उन्होंने भी इसे जारी रखा और पूर्ण बनाते गये, अन्त में इसने एक प्रकार की काफ़ी स्थिर

शिक्षण-पद्धति का रूप ले लिया। परन्तु इसका जो सम्पूर्ण आधार है वह है सचेतन संकल्प का शरीर पर प्रभाव। पद्धति के सुनिश्चित रूप का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। विभिन्न देशों और कालों में किसी एक या दूसरी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है, पर इसके पीछे जो चीज़ है वह है एक निश्चित धारा में विधिवत् कार्य करती हुई मानसिक शक्ति। निस्सन्देह, कुछ पद्धतियाँ उच्चतर शक्ति को प्रयोग में लाने का प्रयत्न करती हैं जो धीरे-धीरे अपनी क्षमता मानसिक शक्ति में उँडेल देती है : जब उच्च कोटि की कोई शक्ति मानसिक पद्धति में उँडेली जाती है तो स्वभावतः वह अधिक प्रभावकारी और सक्षम बन जाती है। पर प्रधानतः ये सब शिक्षण-पद्धतियाँ सबसे अधिक उस व्यक्ति पर निर्भर करती हैं जो इनका व्यवहार करता है और उस तरीक़े पर जिसे वह प्रयोग में लाता है। वह शिक्षण के इस सर्वथा बाह्य आधार का अत्यधिक भौतिक व सामान्य प्रक्रियाओं में भी उच्चतर कोटि की शक्तियों को भरने के लिए उपयोग कर सकता है। तो, सब पद्धतियाँ, वे चाहे जो भी हों, लगभग पूरी तरह उस व्यक्ति पर निर्भर करती हैं जो उनका उपयोग करता है और इस बात पर कि वह उनमें क्या भरता है।

श्रीमातृवाणी, खण्ड ९, पृ. १६९-७१

यौवन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि हम उम्र में कितने छोटे हैं, बल्कि इस पर कि हमारे अन्दर विकसित होने और प्रगति करने की क्षमता कितनी है। विकसित होने का अर्थ है, अपनी अन्तर्निहित शक्तियाँ, अपनी क्षमताएँ बढ़ाना; प्रगति करने का अर्थ है, अब तक अधिकृत योग्यताओं को बिना रुके निरन्तर पूर्णता की ओर ले जाना। वृद्धावस्था आयु बड़ी हो जाने से नहीं आती बल्कि विकसित होने और प्रगति करने की अयोग्यता के कारण अथवा विकसित होना और प्रगति करना अस्वीकार कर देने के कारण आती है। मैंने बीस वर्ष की आयु के वृद्ध और सत्तर वर्ष के युवक देखे हैं। ज्यों ही मनुष्य जीवन में स्थित हो जाने और पुराने प्रयासों की कमाई खाने की इच्छा करता है, ज्यों ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि उसे जो कुछ करना था वह उसे कर चुका और जो कुछ उसे प्राप्त करना था वह प्राप्त कर चुका, संक्षेप में, ज्यों ही मनुष्य प्रगति करना, पूर्णता के मार्ग पर अग्रसर होना बन्द कर देता है, त्यों ही उसका पीछे हटना, बूढ़ा होना निश्चित हो जाता है।

शरीर के विषय में भी मनुष्य यह जान सकता है कि उसकी क्षमताओं की वृद्धि और उसके विकास की लगभग कोई सीमा नहीं, बशर्ते कि मनुष्य इसकी असली पद्धति और सच्चे कारण ढूँढ़ निकाले। यहाँ हम जो बहुत-से परीक्षण करना चाहते हैं उनमें से एक यह शारीरिक विकास भी है और मानवजाति की सामूहिक धारणा को निर्मूल कर हम संसार को यह दिखा देना चाहते हैं कि मनुष्य में कल्पनातीत सम्भावनाएँ निहित हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २७७

श्रीअरविन्द के उत्तर

(९४)

एक सपने में मैं द्युमान् के कमरे के पास पहुँच गया। रात का समय था और कुछ साधक नीचे खड़े थे जिन्हें श्रीमाँ ऊपर छत से फूल दे रही थीं। इतना अँधेरा था कि वे मुश्किल से दिखायी दे रही थीं, मैं भी उस ओर लपका और ऊपर से गिरते हुए फूल, हवा में चकरघिन्नियाँ खाते हुए, ठीक नीचे मेरे हाथों में आ गिरे। मैंने देखा कि वे वे पुष्प थे जिन्हें माँ ने "उद्घाटित होता हुआ चैत्य-केन्द्र" नाम दिया है और एक सफ़ेद पुष्प भी था, वह शायद "प्राणिक पवित्रता" नामक था। वापस जाते समय मुझे तारा मिल गयी और उसने कहा, "देखो, रात को हमें सही फूल मिल रहे हैं।"

अच्छे प्रतीकात्मक अर्थ के साथ बहुत बढ़िया सपना।

सवेरे प्रायः सारे समय मेरे ऊपर सुखद अचञ्चलता छायी हुई थी। लेकिन दोपहर को एक तरह की सुस्ती छा गयी, उनींदा-सा हो गया मैं। उसके साथ अतीत की छिटपुट यादें भी सिर उठाने लगीं, जिन पर ध्यान न देने के लिए मैं इधर-से-उधर टहलने लगा। नींद की वजह से सकारात्मक अचञ्चलता का भाव तिरोहित हो गया।

यह भौतिक तमस् है जो अचञ्चलता को ढकेल कर ख़ुद बैठना चाहता है। रूपान्तर का एक भाग तमस् के तत्त्व को *शम* या सच्ची अचञ्चलता, शान्ति में बदल देता है, बाक़ी सब निम्नतर प्रकृति में नीचे उतरना या विकार है (क्योंकि तीनों गुणों में उनकी उच्चतर प्रकृति में भागवत प्रतिरूप होता है)। लेकिन चूँकि तमस् निम्नतर प्रकृति की बहुत पुरानी, प्रतिष्ठित आदत है अतः वह बना रहता चाहता या अपने स्थान पर पुनः लौट आना चाहता है। यही कारण है कि इस तरह की अदला-बदली दोनों में आपस में चलती ही रहती है।

१७ अगस्त १९३५

'Sunday Times'—संडे टाइम्स—अख़बार के विशेष अंक के पूरक में भी वे इश्तहार दिये बिना रह नहीं सकते! इन लोगों में अनुपात का कोई बोध ही नहीं है। कई वर्षों के बाद वे कोई गम्भीर साहित्य देते हैं, और फिर भी इश्तहारों की इस बाढ़ को रोक नहीं पाते और अंक बिगाड़ देते हैं! मेरे ख़याल से यह विशेष अंक छापने के पहले उन्हें नलिनी या किसी और की राय माँग लेनी चाहिये थी। क्या उनसे यह

नहीं कहा जा सकता था कि इस अंक में इन इश्तहारों को न दें? किसी ने मुझसे कहा कि भई, आख़िर वे लोग तो व्यापार कर रहे हैं। हाँ, ठीक है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि एक बार भी वे इसे छोड़ नहीं सकते थे। या फिर इसका यह मतलब है कि हम अपनी चीज़ें प्रकाशित करने के लिए बेचैन थे? क्या इस तरह छपवाने का—वह भी अख़बार में—कोई मूल्य है?

बिलकुल नहीं है, लेकिन प्रचार करने का आवेश बहुतों में होता है—इसलिए हो सकता है कि विज्ञापनों से उन्हें कोई आपत्ति न हो। स्पष्ट ही, इस तरह से प्रकाशित सारा अंक बहुत बेमेल और भद्दा-सा दीख रहा है। लेकिन मेरे ख़याल से इस मामले में यहाँ किसी से कोई राय नहीं ली गयी थी—प्रकाशन की सारी सामग्री उन्हीं लोगों ने दी।

सवेरे वही समान शान्ति तथा अचञ्चलता-जैसी अवस्था थी, लेकिन दोपहर को, ख़ासकर शाम के भोजन के बाद पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा उनींदापन था। मुझे मालूम नहीं कि मौसम के बदलने से दोपहर को कम खाने की ज़रूरत है। सचमुच, दोपहर को मुझे भूख बिलकुल नहीं लगी थी और, खाने के बाद मुझे बेचैनी-सी महसूस होने लगी।

मेरी समझ में नहीं आता कि मौसम के बदलाव से खाने की आवश्यकता क्यों कम हो जाये—लेकिन खाने के बाद इस तरह महसूस करने की वजह कोई और हो सकती है। मेरे ख़याल से यह कोई अस्थायी चीज़ हो सकती है।

आज मैं शान्ति तथा मादक मधुरता की स्थिति में हूँ, और सोने में सुहागा यह कि मैंने सुना कि सर हुकुमचन्द प्रणाम के लिए आ रहे हैं। मैं हमेशा यही सोचा और अचरज किया करता था कि अपने पैसों के स्वाभाविक घमण्ड से भरे क्या ऐसे लोग कभी श्रीमाँ को प्रणाम करने आयेंगे, हालाँकि मैंने सुना था कि वे धार्मिक व्यक्ति हैं और काफ़ी सीधे-सादे इन्सान हैं। भामाशाह-जैसे लोग भी इसी श्रेणी में आते हैं। निस्सन्देह, ऐसे धनी हैं जो ज़्यादा धनी बनने या, सन्तान पाने अथवा अपना भविष्य जानने की कामना से गुरु की खोज करते हैं, तो इस तरह के लोगों का यहाँ आना तो कोई हर्ष की बात नहीं है। लेकिन शायद ये अधिक सुसंस्कृत व्यक्ति हैं। जब ऐसी सुखद घटनाएँ घटती हैं तो मैं ख़ुश होने के अलावा और क्या कर सकता हूँ।

हुकुमचन्द दोपहर के पहले पॉण्डिचेरी नहीं आये। आज वे आश्रम देख रहे हैं और कल सम्भवत: माँ उनसे मिलें। वे सचमुच दर्शन के लिए आये थे, लेकिन उन्होंने सोचा कि केवल १५ तारीख़

को ही नहीं, अगस्त के पूरे महीने में रोज़ दर्शन होता है।

अगर बड़े आदमी भी बाहरी तौर पर इस "महान् कार्य" के लिए उपयोगी बन जायें तो छोटे व्यक्तियों को भी आन्तरिक तरीक़े से कुछ अधिक करना चाहिये। जब बड़े आदमी आश्रम में आते हैं तो यहाँ हर एक ज़रूर ख़ुशी का अनुभव करता है और अवश्य ही अपनी आन्तरिक प्रगति के लिए अधिक कार्य करना चाहेगा। लेकिन अभी तो मैं यह देख रहा हूँ कि यह प्रसन्नता प्राणिक उल्लास है, यहाँ तक कि इसमें अहंवाद का पुट भी है। यह तो कुछ-कुछ यह कहना हुआ, "ओह, महान् व्यक्ति भी उस पथ पर आये हैं जिसे हमने चुना है।" यह विचार आन्तरिक प्रगति के लिए प्रेरणा देने के बदले हमें अधिक बड़े छितराव की तरफ़ ले जा सकता है।

अब तक साधक सामन्य चेतना के साथ बहुत सारी चीज़ें करते आये हैं, लोगों से मिलते हैं, वे आन्तरिक यौगिक दृष्टि से कार्य नहीं करते। प्राणिक उल्लास के लिए यह सच है और यह चीज़ मदद नहीं करती, क्योंकि इसमें शक्तियों का खेल सामान्य स्तर पर चलता रहता है।
१९ अगस्त १९३५

जब मैं श्रीमाँ के 'वार्तालाप' या उनकी 'प्रार्थनाएँ' पढ़ता हूँ तो बहुत बार मुझे अनुभव होता है मानों मैं माँ के मन के सम्पर्क में आ गया हूँ। मैं सोच रहा था कि केवल इन्हीं दो पुस्तकों के बारे में सोचने और हमेशा इनका ही अध्ययन करने से व्यक्ति अपनी चेतना को अधिकाधिक तीव्र और उत्कट बना सकता है जब तक कि वह माँ की चेतना-जैसी नहीं बन जाती। निस्सन्देह, हो सकता है कि बस मन ही तेज़ तथा उत्कट बन कर अपने-आपको उठा ले, लेकिन शायद उस तीव्रता तथा उन्नति द्वारा प्राण तथा दूसरे भाग भी अपने सामान्य, घिसे-पिटे मार्ग से आगे बढ़ जायें।

तुम जो पढ़ते हो उसके द्वारा स्वयं को उत्कटता के साथ श्रीमाँ के साथ एकात्म कर लेना सम्भव है—तब तुम जिस परिणाम की बात कर रहे हो वह आ सकता है। इसका एक हद तक प्राण पर भी असर पड़ सकता है।

यह अपनी गहराई के साथ शान्ति तो नहीं प्रतीत हो रही, लेकिन ऐसा लग रहा है कि कोई अचञ्चल बल सारे शरीर में उँडलता जा रहा है। काम के समय यह इतने सकारात्मक रूप में अनुभव नहीं होती, लेकिन काम जैसे ही समाप्त हो जाता है, यह एकदम ठोस बन जाती है और अनुभव होता है मानों मैं संसार से अनासक्त हो गया हूँ।

यह अच्छा है—शान्ति के बाद बल को ही नीचे उतरना और उसके साथ जुड़ना है। अन्त में दोनों एक हो जाते हैं।

> *बल का भाव अधिक ठोस है और उसके साथ चारों ओर ऊष्मा का भाव छाया हुआ है। प्रणाम के बाद निश्चल-नीरवता अधिक सुस्पष्ट थी, विचार और क्रिया क़रीब-क़रीब बन्द ही हो गये थे।*

अच्छा है; विचार तथा दूसरे स्पन्दनों की समाप्ति आन्तरिक नीरवता की चरम सीमा है। जब व्यक्ति इसे पा लेता है तो मानसिक विचार के स्थान पर, ऊपर से सच्चे ज्ञान का आना अधिक आसान हो जाता है।

> *दोपहर के बाद मैंने सोने की थोड़ी कोशिश की ताकि काम के समय नींद के प्रहार से बच सकूँ। यह उपाय काम में आया, लेकिन बाद में मुझे भारीपन का अनुभव हुआ और पाँच के बाद उस भारीपन को मैंने पैरों में महसूस किया। मुझे कमज़ोरी-सी भी लगी इसलिए छह बजे के बाद मैं कमरे में आकर बस बिस्तर पर लेटा रहा। मानसिक जड़ता से बचने के लिए मैं श्रीमाँ के 'वार्तालाप' (Entretiens) पुस्तक पढ़ने लगा, जिससे पेट और पैरों के भारीपन से मेरा ध्यान बँट गया। भारीपन, कमज़ोरी और सुस्ती मिल कर, अतीत की कुछ यादों को ले आयीं, उनमें से सबसे प्रमुख थी—बम्बई के ट्राम-कार के एक नम्बर से सम्बन्धित। उसके बाद तो यादों की बारात उतर आयी और आधी नींद की हालत में मेरे सामने से वह सब गुज़रने लगा।*

ये सब भौतिक मन और शरीर पर तमस् की जकड़ के सामान्य प्रभाव हैं। मेरे ख़याल से तुम दोपहर को सोने के आदी नहीं हो न?
२१ अगस्त १९३५

> *अस्थिर नींद के बावजूद (मैं रात को कई बार उठा और सवेरे चार बजे फ़्रेंच की पढ़ाई के लिए जाग गया), शरीर में एक तरह के हलकेपन और आराम का भाव था। पिछले दिन के बल का भाव ग़ायब हो गया था, साथ ही शरीर का भारीपन भी चला गया था। उसके स्थान पर हलकापन और स्वतन्त्रता और साथ ही, एक तरह का शान्त हर्ष आ गया। बाद में कहीं मुझे हरिन् मिल गया। उसने मुझसे बातचीत की और मैंने जवाब दिया, हालाँकि आजकल उससे बातें करने की मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर मैंने देखा कि मेरी वह अवस्था एकदम से चली गयी थी।*

मुझे पता नहीं कि क्या वह उसकी चञ्चल अवस्था थी जो मुझ पर हावी हो गयी।

तीन चीज़ों को आना चाहिये—शान्ति, शक्ति और आनन्द। तुम्हें इनका स्पर्श मिल रहा है, लेकिन ये बनी नहीं रहतीं, क्योंकि स्वाभाविक रूप से यह बस एक आरम्भ है जो इतना तीव्र नहीं है। चूँकि ये चीज़ें अभी तक अन्दर प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं इसलिए इस तरह का सम्पर्क आसानी से बीच में आ सकता है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति की साधारण चेतना का स्पर्श व्यक्ति को उस अवस्था से बाहर निकाल देता है। जब ये चीज़ें प्रतिष्ठित हो जायेंगी तब चेतना इतनी आसानी से प्रभावित नहीं होगी।

साधक एक पाइप की तरह है जिसके दोनों सिरों पर दो छेद हैं। एक छेद में ऊपर से चीज़ें प्रवेश करती हैं, दूसरे छोर से अज्ञान और मिथ्यात्व-जैसी सामान्य चीज़ें अन्दर आ जाती हैं। पहले छेद को खुला रखना चाहिये, दूसरे को बन्द। लेकिन अधिकतर प्राण यह चाहता है, और विशेषकर जिन लोगों में प्राण बलवान् होता है वे चाहते हैं कि बहुत कुछ पहले छेद से प्रवेश कर जाये, लेकिन यह भी कि दूसरे को भी खुला रखा जाये। शायद वे, जो यह सोचते हैं कि अतिमानसिक शक्ति आकर सभी कठिनाइयों को सुलझा देगी, वे दूसरे छेद को जितना सम्भव हो उतना चौड़ा खुला रखना चाहते हैं, ताकि सारा मटमैला पानी, सारी कीचड़ उसमें अन्दर आ सके, लेकिन पहले छेद से शुद्ध भाप का इतना तेज़ दबाव आये कि वह सारी कीचड़ को निकाल दे, सारे मटमैले पानी को साफ़ कर दे। शायद ऐसी प्रक्रिया हो सके, लेकिन "अत्यधिक दबाव के साथ भाप" के उतरने से तो पाइप भी फट सकता है न!

निस्सन्देह, ऐसा हो सकता है। लेकिन दूसरे छेद को खुला रखना कभी अच्छी नीति नहीं होती। सामान्य स्वभाव की कठिनाइयाँ तो अपने-आप काफ़ी मात्रा में आती ही रहेंगी, लेकिन उन्हें विदेशी वस्तु के रूप में बाहर ही रखना चाहिये, उन्हें सतह की चीज़ें मानना चाहिये। उनके आने के लिए एक छेद को खुला रखना अपने-आपमें कठिनाइयों को बटोरना और बदलाव की प्रक्रिया को जटिल बना देना है जो प्रक्रिया वैसे ही बहुत अधिक कठिन है। और पाइप के फटने का ख़तरा भी रहता है। जब कि अगर उच्चतर छिद्र को शान्ति इत्यादि के अन्दर आने और वहीं बस जाने के लिए खुला रखा जाये और निम्न गतियों का प्रवेश रोक दिया जाये तो परिवर्तन अपेक्षाकृत शान्त, सुखद तथा वस्तुनिष्ठ तरीक़े से होगा और उसमें कम-से-कम—क़रीब-क़रीब न के बराबर—ख़तरा होगा।

२२ अगस्त १९३५

छाती और पेट में उत्पन्न ख़ालीपन साधना का ख़ालीपन ले आया, प्रायः विस्मृति छा गयी, सब कुछ रुक गया—अनुभूति, प्रयास, अभीप्सा—सब कुछ ग़ायब हो गया। लेकिन फिर भी किसी विशेष विक्षोभ या कठिनाई का भान नहीं हो रहा है। लेकिन यह तो कहना ही होगा कि यह चीज़ अपने-आपमें एक कठिनाई है—कि व्यक्ति अच्छी तरह से ग्रहण नहीं कर पा रहा, कि व्यक्ति गहरी या तीव्र अनुभूतियाँ पाने में अक्षम है, या यह कि प्रगति जितनी होनी चाहिये उतनी तेज़ी से नहीं हो रही है। प्रगति बहुत, बहुत धीमी चल रही है।

यह तमस् का एक रूप हो सकता है, हालाँकि कष्टदायक नहीं—भौतिक चुप बैठा है, मानों कह रहा है, "जब अनुभूतियों के आने का समय होगा, वे आयेंगी; मुझे उन्हें लाने के लिए कुछ नहीं करना है।" भौतिक चेतना के अधिक जड़वादी भाग का यही स्वभाव होता है,—वह किसी शक्ति से तो परिचालित हो जाता है, लेकिन अपने-आप कभी हिलता-डुलता नहीं। निश्चय ही, यह चीज़ प्रगति को बहुत धीमा कर देती है। लेकिन मेरे ख़याल से यह अवस्था भी गुज़र जायेगी।

शान्ति या बल का कोई सकारात्मक भाव तो नहीं है, लेकिन कुछ सन्तुष्टि के साथ एक तरह की तटस्थता आ गयी है। प्रणाम के बाद मुझे पेट और छाती में रिक्तता का अनुभव हुआ, मानों सब कुछ चला गया। लेकिन साथ ही, सुस्ती या विक्षोभ भी नहीं हैं।

यह अच्छा है। रिक्तता अपने-आपमें परेशानी वाली बात नहीं है, जब तक कि वह खिंचती ही न चली जाये। यह ख़ाली प्याला है जो भरे जाने की प्रतीक्षा में है।
२३ अगस्त १९३५

मैं सवेरे पाँच बजे उठा, नहा-धोकर बिस्तर पर फिर से लेट गया और सो ही गया। उस समय मुझे एक सपना आया जिसमें कोई कुर्सी पर बैठा था और लोग उसे प्रणाम कर रहे थे। मैंने देखा कि वह दुबला-पतला इन्सान था, कुछ-कुछ विष्णु की तरह या शायद जे.कृष्णमूर्ति की तरह लग रहा था। सपने में मैंने प्रायः सोच लिया कि ये श्रीमाँ थीं, और मैंने भी बढ़ कर प्रणाम किया। उस व्यक्ति ने औरों को तो बस छुआ, लेकिन मेरे ऊपर बहुत समय तक हाथ रखा और मैंने बहुत ताज़गी का अनुभव किया। जागने पर मुझे यह याद था और उस व्यक्ति की आकृति से मैं सन्दिग्ध हो उठा।

शायद सन्देह की बात नहीं है—अगर तुमने ताज़गी महसूस की तो कोई ग़लत चीज़ नहीं होगी—

शायद वह किन्हीं भगवान् का एक रूप हो।
२४ अगस्त १९३५

कई सारे सपने आये। एक में बहुत लोग झगड़ रहे थे। सन्तरों से भरी एक टोकरी लिये एक आदमी आया और उसने वह ऊपर से फेंक दी। लोगों की भीड़ नीचे आ गयी और सन्तरे लेने के लिए वे धक्का-मुक्की करने लगे। मैं वहाँ से गुज़रा, सामने एक और भीड़ थी। उनमें से एक ने व्यंग्यपूर्वक कहा, "अतिमानसिक फल"। मुझे आश्चर्य है कि उसे यह शब्द कैसे पता चला और कैसे उसने इसका दुरुपयोग किया। मैं वहाँ से निकल कर स्टेशन आ गया। मैंने पाया कि मेरी जेब में बस एक आना है। मैंने एक लड़के से पूछा कि सूरत में अमुक स्टेशन तक जाने का कितना टिकट लगेगा। फिर मैंने उससे पूछा कि क्या उसके पास कुछ पैसे हैं क्योंकि चलते समय मैं पैसे रखना भूल गया था। वह दौड़ कर पैसे ले आया। मैंने उससे उसका पता पूछा और अपना उसे दिया। अपने बड़े भाई से विचार-विमर्श कर, उसने अपना पता मुझे नहीं दिया।

लगता है कि ये प्राणिक स्तर के या उन मार्गों पर घटित हो रहे सपने हैं, उधार लिये पुराने सम्पर्कों के रूप लगते हैं ये।

शान्ति और अचञ्चलता का ठोस अनुभव दोपहर को फिर से ग़ायब हो गया, और अचानक अख़बार तथा पत्रिकाएँ पढ़ने की ललक जाग उठी। पुस्तकालय में मैंने कुछ पढ़ीं और इधर-उधर अख़बार इत्यादि पर नज़र डाली, लेकिन किसी से मुझे सन्तोष न मिला। मैंने कई तरह की किताबें देखने की कोशिश की, और हर बार पढ़ने की भूख का मैंने अनुभव किया, लेकिन फिर भी असन्तुष्ट ही रहा। पाँच बजे के बाद जब मैंने शान्ति से बैठने की कोशिश की तो यह विक्षिप्त अवस्था और भी बढ़ गयी। मैं चुपचाप बैठा नहीं रह सका और रने और उसके रिश्तेदारों की उपस्थिति से चारों तरफ़ का वातावरण और भी ख़राब लगने लगा, मानों सब जगह छितराव और किसी वस्तु का अभाव था।

यह ज़रूर किसी विक्षुब्ध प्राण का आक्रमण होगा जो कहीं बाहर से आया होगा। निस्सन्देह, रने और उसका भाई पूरी तरह से प्राण में निवास करते हैं।

ख़ालीपन का भाव शक्ति के भाव में बदल गया, और वह भी अधिक तो पेट और नीचे स्थित थी, पहले जैसे मैंने उसे सिर में महसूस किया था, वैसा नहीं था। प्रणाम

के पहले मैंने सभी जगह एक गभीर शान्ति का अनुभव किया।

यह प्राणिक तथा भौतिक चेतना में शक्ति का अवतरण है जो अनिवार्य रूप से शान्ति को गभीर और विस्तृत बना देती है। ख़ालीपन बहुधा इस तरह के अवतरण का अग्रदूत होता है।
२५ अगस्त १९३५

किसी ने कहा कि प्रणाम के बाद मणि के अन्दर इतनी शक्ति आ जाती है कि उसे लगता है कि वह अपने हाथ से पत्थर भी तोड़ सकता है। लेकिन मुझे इस तरह के बल का एकदम कोई अनुभव नहीं होता—वह तो एक ऐसी कोमल शक्ति और अचञ्चलता होती है जो किसी छोटे से पत्थर को तोड़ने या बेकार में चोट पहुँचाने में भी डरे। यह ऐसी शक्ति नहीं है जिसका प्रयोग बाहर किया जा सके। जब सिर में शक्ति की भावना होती है तब व्यक्ति को लगता है कि वह किसी भी वस्तु या किसी भी व्यक्ति को चकनाचूर कर सकता है या करना चाहेगा। लेकिन शायद यह रजस् के साथ मिला हुआ भाव हो।

हाँ। यह भावना कि व्यक्ति हाथ से पत्थर तोड़ सकता है या यह कि बस शक्ति की सहायता से दुनिया में तोड़-फोड़ मचा सकता है, विशेष रूप से तब उठती है जब मन और प्राण 'शक्ति' को आत्मसात् नहीं कर पाते हैं। उन्हें यह कोई असाधारण और सर्वशक्तिमान् भाव प्रतीत होता है; तोड़-फोड़ या कुचलने का भाव रजस् के द्वारा प्राण में आता है। बाद में जब इसे चुपचाप आत्मसात् किया जाता है तो यह संवेदन ग़ायब हो जाता है और केवल अचञ्चल बल तथा अडिग दृढ़ता का भाव बना रहता है।

यह कुछ अजीब-सी बात है कि मुझे ऊपर उठने की एकदम से कोई अनुभूति नहीं होती, लेकिन नीचे उतरने की बहुतेरी होती हैं। क्या व्यक्ति को आरोहण के लिए अधिक तीव्रता से एकाग्र होना चाहिये, या फिर बारी-बारी से आरोहण और अवरोहण हों इसके पहले उसके सभी भागों को अच्छी तरह शुद्ध होना चाहिये?

मेरे ख़याल से आरोहण से अधिक सामान्यतः अवरोहण, यानी नीचे उतरना होता है। कुछ साधकों को पहले आरोहण का अनुभव होता है या आरोहण और अवरोहण दोनों साथ-साथ होते हैं, लेकिन अधिकतर अवरोहण पहले होते हैं और आरोहण (सिर के ऊपर) केवल तभी होता है जब शरीर में शान्ति, शक्ति, आनन्द इत्यादि का बहुत सारा कार्य हो चुका होता है।
२६ अगस्त १९३५

आज का अनुभव सामान्य से अलग था। इसकी व्याख्या शान्ति, शक्ति, बल या हर्ष के रूप में नहीं की जा सकती। सवेरे-सवेरे मुझे लगा कि कहीं से गहरी गरमाई आ रही है, यहाँ तक कि मुझे उसकी महक भी मिली। वह इतने पर्याप्त समय रही कि मैंने उसका ठोस रूप में अनुभव किया, हालाँकि दिन में उसकी तीव्रता और उसका ठोसपन काफ़ी कम हो गये थे। निश्चित रूप से, सामान्यतः जैसा होता है, उसके पीछे शान्ति तथा अचञ्चलता का भाव बना हुआ था। शायद बहुत समय बाद यह विशेष संवेदन आया।

चैत्य में अग्नि?

एक सपने में अम्बु, एक लड़की और मैं कहीं जा रहे थे। वहाँ एक छोटा तालाब था और हम लोग बड़ी सावधानी के साथ किनारे-किनारे चल रहे थे। वहाँ एक बैल दीख पड़ा, पहले तो वह शान्त दीखा, लेकिन जैसे-जैसे हम बढ़ रहे थे, वह हमारे पीछे-पीछे आने लगा, कभी वह पानी में भी उतर रहा था। अम्बु और वह लड़की आगे निकल गये और मैं उस बैल की हरकतें देखने के लिए पीछे रह गया। मानसिक रूप से वह मुझे रौंदने की धमकी दे रहा था और फिर मैं भागने लगा। वह मेरा पीछा करने लगा, मैं डर गया कि कहीं वह मुझे पकड़ न ले। जब तक मैं सड़क पर पहुँचा, मुझे यह विचार आया कि अगर वह पास आया तो मैं बड़ी मात्रा में मिट्टी उठा कर उसकी आँखों में झोंक दूँगा। वह मुझे पीछे छोड़ कर आगे नहीं निकल पाया, और तभी मेरी नींद खुल गयी। सपने का यह बैल बड़ा अजीब था जो मानसिक रूप से बोल रहा था और मैं उसकी धमकियाँ मानसिक रूप से ही समझ रहा था। शायद यह कोई असुर हो।

हाँ। निश्चित रूप से यह प्राणिक लोक का स्वप्न था और बैल ज़रूर कोई आसुरिक शक्ति ही रहा होगा।

२७ अगस्त १९३५

अपनी माँ के घर, रिश्तेदारों के साथ भोज में शामिल होने के बाद मेरा सपना टूट गया। शरीर, मन और प्राण में हलकेपन, आराम और स्वतन्त्रता का भाव छा गया, मानों सब कुछ ग़ायब होकर इस शान्त हलकेपन और स्वतन्त्रता में बदल गया। शरीर था, उसकी उपस्थिति की चेतना थी, लेकिन फिर भी उसके साथ किसी भी तरह के तादात्म्य का अनुभव नहीं हो रहा था।

अच्छा है—इसका मतलब यह है कि शरीर की चेतना के साथ तादात्म्य से मुक्ति मिल रही है। यह स्वतन्त्रता का महान् बोध प्रदान करता है।

उस दिन डॉ.मणिलाल ने मुझसे कहा था कि वे मुझसे मिनट-दो मिनट के लिए मिलना चाहते हैं। मैंने अनुमान लगाया कि मेरे ससुर द्वारा भेजा गया मेरे लिए कोई सन्देश होगा, लेकिन मैंने उनसे कह दिया "ठीक है"। आज उन्होंने मुझसे पूछा कि कब मिल सकते हैं हम। मैंने पूछा कि क्या वहाँ से आयी कोई चीज़ है? उन्होंने कहा कि बस साधना के बारे में कुछ है। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरे पास साधना के बारे में कहने को क्या है और ऐसी कौन-सी बात है जिनका उन्हें ज्ञान नहीं है? शायद वे यहाँ स्थायी रूप से जीवन बिताने की सोच रहे हैं और विभिन्न लोगों से यहाँ की स्थिति के बारे में पूछताछ करना चाहते हैं। बहरहाल, मैं उन्हें मना नहीं कर सकता, भले वह मेरे ससुर से आया कोई सन्देश ही क्यों न होता। उन्होंने अपने घर पर मिलना निश्चित किया जहाँ कोई हमारी बातचीत न सुन पाये।

मैं ठीक से कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि मुझे पता नहीं कि वह किस तरह के प्रश्न पूछना चाहता है। मेरे विचार से अपने उत्तरों में तुम स्वयं अपने विवेक से काम ले सकते हो।

२८ अगस्त १९३५ **श्रीअरविन्द**